घुमक्कड़ स्वामी



राहुल सांकृत्यायन



किताब महल, इलाहाबाद : दिल्ली

१९५८

प्रकाशक—किताब महल, ५६-ए जीरो रोड, इलाहाबाद।
मुद्रक—जीवन कल्याण प्रेस, त्रिवेणी रोड, इलाहाबाद।

विषय-सूची

अध्याय १

बाल्य (१८८६-१९०५)

आयु वर्ष १६

कानपुर आज उत्तर-प्रदेशका सबसे बड़ा शहर और उत्तरी भारत की औद्योगिक राजधानी है। पर, इसका यह अर्थ नहीं, कि वह आजसे डेढ़ सौ साल पहले भी कोई प्रसिद्ध बस्ती थी। कानपुरकी सारी माया आधुनिक यातायातके साधनों और अंग्रेजी शासनकी देन है। कितने ही लालबुझक्कड़ कानपुर कह कर इसको यह सम्भ्रान्त नाम देना चाहते हैं। लेकिन, कानपुर कर्णपुरसे नहीं, बल्कि केम्प या कम्पूका बिगड़ा रूप है। वहाँ अंग्रेजी सेनाका केम्प था। कम्पनीके शासनमें छावनियोंको केम्प या डिपो कहते थे।

१८ वीं शताब्दीके मध्यमें पहुँचते-पहुँचते दिल्लीकी मुगल सल्तनत छिन्न-भिन्न हो चुकी थी। दरबार के प्रभावशाली अमीर सल्तनतके एक-एक भागको दबा कर अपना स्वतन्त्र राज्य कायम कर रहे थे। इसी समय लखनऊ, मुर्शिदाबाद और हैदराबादकी नवाबियाँ कायम हुई। मुर्शिदा-बादको अपने हाथमें करके अंग्रेजोंने अपने राज्य की नींव डाली। फिर लखनऊके अंग-भंग करने शुरू किये। बचे हुये लखनऊपर भी हर वक्त पूरी तौरसे अंकुस रखनेकेलिये उन्हें एक ऐसे स्थान की आवश्यकता थी, जहाँ वह अपनी सेना रख सकें, और जहाँ यातायातकी भी सुविधा हो। ऐसा स्थान कानपुर निकला था। गंगाके किनारेपर होनेके कारण वहाँ सेना और रसद लेकर कलकत्तेसे नावें पहुँच सकती थीं। कम्पनीकी सेनाके केम्पके गड़नेसे पहले वहाँ कोई प्रसिद्ध गाँव भी नहीं था। १८५७ ई०में विद्रोहके समय ही उसका रूप एक कस्बे-सा होने लगा था, क्योंकि सेनाकेलिए बाजारकी आवश्यकता होती है। जब तक रेल यहाँ

नहीं पहुँच गई, तब तक सस्ता यातायातका साधन गंगा थी। जिसके किनारे बसा मिर्जापुर अधिक व्यापारिक महत्व रखता था। वहाँ सरगुजा तकके बंजारे बैलोंपर लाख, कपास और दूसरी चीजें लादे पहुँचते थे। पश्चिम और उत्तरसे भी माल वहीं जाता था। मिर्जापुर तब एक बड़ा वैभवशाली नगर था। रेल आनेपर कानपुर, झाँसी, लखनऊ और पश्चिम के व्यापार और यातायातका केन्द्र बन गया। उद्योग-धन्धेके खड़े होते ही इसकी दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति होने लगी, और मिर्जापुरसे रूठ कर लक्ष्मी यहाँ पहुँच गई।

पहले यहाँ छोटी रेल लखनऊ तक बनी। फिर बड़ी रेल आई। बड़ी रेलके आ जानेपर उसे छोटी रेलके नजदीक लानेकेलिये पुल और सड़क बनी। सड़क और रेलके बीच लक्ष्मीपुरवा, ठठेराबाजार और एक बहुत बड़ा मैदान पड़ता था। इसी मैदानके आस-पास विद्रोहके बाद कुछ मकान बनने लगे। स्थानको गल्लामंडीके अनुकूल समझ कर कुछ व्यापारी वहाँ बस गये। वहाँ अनाज, घी और दूसरे सामान के गोले थे, इसलिये उस स्थानका नाम गल्लामण्डी पड़ गया। बड़ी रेलके पास बसे होनेके कारण उसे लोग रेलगंज कहने लगे, जो आज तक इसी नामसे प्रसिद्ध है। इसके कारण कानपुरकी दूर-दूर तक ख्याति बढ़ी और जगह-जगहसे व्यापारी आकर वहाँ बसने लगे।

पूर्वज—पं० पीताम्बरदास उन्नाव जिलेके मंगतखेर-मझकुरिया नामक एक छोटे से गाँवके रहनेवाले थे। गाँवके कुछ व्यापारी कम्पूका नाम सुन कर वहाँ पहुँच दूकान करने लगे। अच्छी कमाई थी, उनके मुँहसे गांवमें कम्पूकी चर्चा सुन कर पीताम्बर दासका मन भी ललचाया। उनके पास जीविकाके साधन कुछ खेत थे, और कुछ चिकित्सा से भी कमा लेते थे। वह अपने इकलौते लड़के मुन्नीलालको गाँवमें छोड़ कर कम्पू चले आये। गाँवके बनियेने सलाह दी और एक दूकान किरायेपर लेकर घीका कारबार शुरू किया। वह गाँवोंसे आये घीको लेकर उसे साफ करके कनस्तरों में भरके हातरस, खुरजा आदिके व्यापारियोंके हाथ बेंच दिया करते थे। इस प्रकार गदरसे १२-१३ वर्ष बाद १८६९ या १८७० में

पीताम्बर दास लक्ष्मी-सिन्धुके किनारे धुनी रमा कर बैठ गये । व्यापार चमका । फिर वह अपने बेटे मुन्नीलालको भी गाँवसे ले आये । दोनोंने दो वर्षमें काफी पैसा कमाया, और वहीं कुछ जमीन खरीद ली । उस वक्त जमीन मिट्टीके मोल थी । सोनेके मोल होनेमें अभी देर थी । उसी जमीनपर बाप-बेटोंने धीरे-धीरे एक दूकान और रहनेके लिए उसके ऊपर चौबारा बना लिया ।

मुन्नीलालकी शादी भी हो गई । १८७४ में उनके लड़का पैदा हुआ । प्रसूत-ज्वरमें स्त्री चल बसी, और शिशु भी दो-चार दिन संसारमें रह कर माताका अनुगामी हुआ । पैसेवालेको शादीकी क्या कमी थी । १८७६ में मुन्नीलाल की दूसरी शादी हुई । एक वर्ष बीतते-बीते पं० पीताम्बर बीमार पड़े और तीसरे दिन ही पुत्र और वधूको छोड़ कर चल बसे । मुन्नीलाल अब अकेले रह गये । वह अधिक पढ़े-लिखे नहीं थे । अपने व्यवसायके लिए उसकी अधिक आवश्यकता भी नहीं थी । हिन्दी, कुछ उर्दू, कुछ टूटी-फूटी संस्कृत जानते थे; लेकिन, बड़े धर्मभीरु जीव थे । साधुओंकी सेवा करते, ठाकुर-पूजा और रामायण का पाठ कुल-धर्म समझ कर नित्य करते थे । साधुओंके सत्संगमें उन्हें बड़ा आनन्द आता था । बाबा गोपालदास उनके गुरु थे, जो सालमें एकाध बार अवश्य अपने शिष्यके यहाँ फेरा लगा जाया करते थे । घीके कारबारसे मुन्नीलालको अच्छी आमदनी थी ही, साथ ही देखा, गल्ला रखनेके लिए गोदामोंकी भी माँग ज्यादा है, इसलिए पैसा कमा कर उन्होंने अपने मकानके हातेमें एक गोदाम बनवा लिया । जो अच्छे किरायेपर उठ जाता ।

उस समय ब्राह्मणोंमें व्याह बहुत छोटी उमरमें हुआ करता था, और छोटी लड़की और गौना (मुकलावा) माँ-बाप बहुत देर बाद दिया करते थे । मुन्नीलाल तो "आठ कनौजिये नौ चूल्हेवाले थे", इसलिए अपने हाथों चूल्हा फूँकना पड़ता था । अपने से ही रोटी बनाना और फिर व्यापार देखना अकेले आदमी के लिए मुश्किल था, इसलिए चाहते थे कि बीबी घर आ जाये, तो रोटीका सुख मिले । ससुरालवालों पर बहुत जोर देते रहे । १८८६ में उनका गौना हो पाया ।

जन्म—सन् १८८९ का सावनका महीना था, जब कि मुन्नीलालको एक पुत्र पैदा हुआ। प्रसूति-गृह और प्रसूताको जिस तरह गन्दी कोठरी और दूसरे अस्वास्थ्यकर परिस्थिति तथा साधनों में रक्खा जाता है, उसके कारण हमारे यहाँ बहुत-सी प्रसूतायें अकाल हीमें मर जाती हैं। दाइयाँ अशिक्षित होती हैं। उन्हें शुद्धताका कोई ख्याल नहीं रहता। गन्दे कपड़े, गन्दे हाथों और गन्दे औजारोंसे प्रसव कराती हैं, नाला काटती हैं। इसीका परिणाम होता है, आधी प्रसूता स्त्रियाँ छूतके रोगों में पड़ कर प्राण खो देती हैं। मुन्नीलालजीकी पहली स्त्री भी इसी व्याधिसे मरी थी। दूसरी स्त्रीको भी वही व्याधि लगी। वह उसी वक्तसे चारपाईपर पड़ी, तो आठ महीने बाद मर कर ही उससे उठी। पं० मुन्नीलालने बहुत चिकित्सा, सेवा-सुश्रूषा कराई। आठ महीने तक उन्होंने अपने काम-काजकी खबर नहीं ली। जो भी रुपया था, सब बीमारीमें लगा दिया। होलियों के दिन थे। नगरके लोग अबीर-गुलाल खेलते मस्त थे। इसी समय मुन्नीलालकी जीवन-संगिनीने साथ छोड़ दिया। उन्होंने बालकका नाम हरिश्चन्द्र रक्खा था।

आठ महीनेके बालकको सँभालना और भी मुश्किल था। मुन्नीलाल उसे नानीके पास छोड़ आये। लेकिन, बालकका दुर्भाग्य कहिये, ननिहाल-में अकेली नानी थी। वह अकस्मात् बीमार पड़ गई। दस महीनेके हरि-श्चन्द्रको पिताने अपने साथ रख कर काम-धाम देखना शुरू किया। असाढ़का महीना था, वर्षा आरम्भ होने वाली थी। इसी समय महात्मा गोपालदास आ गये। मुन्नीलालको बड़ी सान्त्वना मिली। महात्मा जब कभी उनके पास आते, तो कुछ दिन अवश्य रहा करते, और कभी-कभी तो सारा चातुर्मासा वहीं बिताते। सन्त गोपालदास गोरे रंगके सुन्दर अच्छे डील-डौल के पुरुष थे। उनका माथा चौड़ा, नाक ऊँची, आँखें बड़ी-बड़ी और हाथ लम्बे थे, हरिश्चन्द्र,उन्हें कभी भूलनेवाले नहीं थे। वह सिर मुड़ाये गेरुआ वस्त्र पहने रहते थे। लेकिन, किसी सम्प्रदा-यके साधु नहीं थे, यद्यपि नामसे वैरागी वैष्णव और भेससे दसनामी संन्यासी मालूम पड़ते थे। रामायण, महाभारत आदिकी कथाओंके कहनेका

उनका ढंग बहुत सुन्दर था। जब कहीं ठहर जाते, तो कोई न कोई कथा अवश्य शुरू कर देते। वह कुछ प्राणायाम भी करते थे, हठयोगकी कितनी ही क्रियायें जानते थे। उस समय (१९ वीं शताब्दीके अन्तिम दशकों में) उत्तर-प्रदेशके पश्चिमी नगरोंमें आर्यसमाज का प्रचार हो रहा था। महात्मा गोपालदास किसी सम्प्रदायके बन्धनमें नहीं थे, तो भी आर्यसमाज विचारोंसे प्रभावित मालूम होते थे। इस समय उनकी उमर ७० साल के आसपास थी।

इससे थोड़ा ही पहले १८९० में गल्लामण्डी रेलगंजसे उठ कर कलक्टरगंज चली गई। मण्डीके कारण ही तो पं० मुन्नीलालका गोदाम अच्छे किरायेपर चढ़ जाता था। अब उसको कोई पूछनेवाला नहीं था। गोदाम ऐसे ही पड़ा हुआ था। उसके भीतर तीन-चार सौ आदमी बैठ सकते थे। सन्त गोपालदासकी कथा सुननेके लिए बहुत आदमी आया करते थे। उसके लिए यह बहुत उपयुक्त स्थान था। मुन्नीलालजीने गोदाम साफ करवा गुरुको वहीं ठहराया था। गोदामका दरवाजा बाजारकी पिछली ओर की गलीमें था, जिसके पीछे दो-चार छोटे-छोटे मकान थे। फिर बिल्कुल खाली मैदान या जंगल था। पीछे इसी मैदानमें एक बड़ी जूट मिल बनी।

मुन्नीलालकी गोदमें बच्चेको देखकर महात्माने पूछा—"यह किसका बालक है?" "आपका ही है" सुनकर वह बहुत प्रसन्न हुए। उनका अपने शिष्यपर बड़ा स्नेह था। उस स्नेहके कारण अब बच्चे पर भी उनका वात्सल्य बढ़ा। दो-चार दिन हीमें बालक बूढ़े सन्त के साथ हिल-मिल गया।

बालकोंका स्वभाव ही है चंचल होना। वह महात्माके दंड कमण्डल को इधर-उधर लुढ़काता, पोथी-पत्रोंको फाड़ता-फेंकता, सारा दिन उधम मचाये रहता। बाबा बालककी इस चपलतासे कभी रुष्ट नहीं हुए, और न कभी उन्होंने झिड़का। यदि मना करना चाहते, तो बहुत प्यारसे समझाते। ऐसे पुरुषको पाकर बालक अपने पिताको भूल जाये, तो आश्चर्य

क्या ? बालक हरिश्चन्द्र के लिये बाबा गोपालदास ही माता और पिता, दोनों बन गये ।

बाबा गोपालदासका अब शरीर इस अवस्थाको पहुँच गया था, जब कि बहुत घूमने घामनेमें अनुकूलता नहीं मालूम होती थी । उन्होंने अपने शिष्यके सामने जिक्र किया, कि अब तो कहीं एक जगह कुटिया बनाकर रहना चाहता हूँ । मुन्नीलालने कहा—"महाराज, जहाँ इस समय आप विराजमान हैं, इसी स्थानको अपनी कुटिया समझिये । आपका यह तुच्छ सेवक कष्ट न होने देने की पूरी कोशिश करेगा । "बाबा गोपालदासके लिए यद्यपि पं० मुन्नीलाल सब कुछ करनेके लिए तैयार थे, लेकिन उनके भक्त बहुत थे । वह उनके पास खाने-पीनेकी चीजें पहुँचाया करते थे । मुन्नीलाल स्वयं चूल्हा फूंकने लगे थे, इसलिए अपने गुरुके लिए दो फुलके और सेंक लेना उनके लिए कोई मुश्किल नहीं था । वर्षोंका घनिष्ठ परिचय था । बाबा ने अपने शिष्यकी बात स्वीकार कर ली ।

बाबा अब पं० मुन्नीलालके गोदामको अपनी कुटिया बना कर रहने लगे । वहीं उनका कथा-सत्संग चलता, जिसमें भक्त लोग शामिल होते । बाकी समय वह कुछ पढ़ते, और बालक हरिश्चन्द्रके साथ खेलते । धीरे-धीरे बच्चा कुछ तुतला कर बोलने लगा । बाबा उसे अपने पास सुला कर क-ख वर्णमाला और अंकोंको बड़ी मीठी लयमें सुना कर उससे बुलवाते । ढाई वर्षका होते-होते बच्चेको सौ तक गिनती और वर्णमालाके सारे अक्षर याद हो गये । चौथे वर्षपर पहुँचने तक मिट्टीपर अंगुलीसे अक्षरोंको लिख कर वह बाबाको दिखला दिया करता । पाँचवें वर्षमें तुलसीकी चौपाइयोंको मीठे स्वरसे वह सुनाने लग पड़ा । सात वर्षका होने तक बाबाने बच्चेको इतनी हिन्दी पढ़ा दी थी, कि वह "हिन्दी बंगवासी" मेंसे कुछ-कुछ पढ़ कर बाबाको देश-विदेशकी खबरें सुनाने लगा । विद्यामें इस तरह उसकी प्रगति देखकर पिता और बाबा दोनों बड़े प्रसन्न थे । उस समय उत्तर-प्रदेशमें उर्दूका बोलबाला था । कचहरियोंमें हिन्दीकी कहीं पूछ नहीं थी, और न नौकरियोंमें उससे सुभीता था । पं० मुन्नीलाल-ने उर्दू पढ़नेके लिए हरिश्चन्द्रको पासके मदरसेमें एक मौलवी के पास

बैठा दिया। एक वर्ष में कायदा और फारसीका करीमा समाप्त किया। "खालकबारी" में हाथ लगाया था, कि पिताको ख्याल आया, उर्दूसे ज्यादा कीमत अंग्रेजीकी है, इसलिए उन्होंने मदरसेसे निकाल कर हरिश्चन्द्रको अंग्रेजी स्कूलमें भर्ती कर दिया। जोड़, बाकी, गुणा-भाग और हिन्दी-उर्दूका ज्ञान काफी होनेसे लड़केको छठी क्लासमें भर्ती किया गया। ११ वें साल (१९०० ई०) में हरिश्चन्द्रने मिडिल पास कर लिया। पिता और बाबा दोनों ही बड़े धार्मिक प्रवृत्तिके थे। वह नहीं चाहते थे, कि उनके बच्चेपर दूसरे लड़कोंका बुरा प्रभाव पड़े। लड़के खिलाड़ी और शरारती होते ही हैं। वह हरिश्चन्द्रको भी अपने साथ ले जाते। कभी उन्हें पतंग उड़ाते देखा गया, कभी ताश या पैसे-कौड़ीका खेल खेलते। एक दिन पतंग उड़ाते हुये आँख आसमान पर टँगी थी और पैर धरतीपर दौड़ रहे थे। हरिश्चन्द्रने गड्ढेमें गिर कर अपनी कोहनी तुड़ा ली, जिसके ठीक होनेमें तीन महीने लगे। लेकिन, हरिश्चन्द्र, इससे हताश क्यों होने लगा? स्कूल कुछ दूर था। घरसे स्कूल जाते, रास्ते हीमें खिलवाड़ी लड़कोंकी मण्डली घेरकर उसे अपने साथ कर लेती। स्कूलकी गैरहाजिरीका पता पं० मुन्नीलालको लग गया, और उन्होंने खूब पीटा। एक दिन शाम हो गई, और लड़का अभी भी स्कूलसे नहीं आया। चारों ओर ढूँढ़ने पर कहीं नहीं मिला। अगले दिन दोपहरको घर आया। बापकी आँख बचा कर भीतर जाना चाहा। पिता उस वक्त चूल्हेमें रोटी सेंक रहे थे। देखते ही उनका पारा गरम हो गया, और चूल्हेमें से जलती लुकाठी निकाल कर उससे मारा। वह पैरमें जोरसे लगी और घाव हो गया। चोटको देखकर बाबा मुन्नीलालपर बहुत नाराज हुए। बाबा तो सदा अपने शिष्यसे कहा करते थे "लालने बहवो दोषाः ताडने बहवो-गुणाः।" फिर यदि बहुत दोषवाले लाड-प्यारको छोड़ कर पिताने बहुत गुणवाले ताड़नका आश्रय लिया, तो उनका क्या कसूर? इस घाव से हरिश्चन्द्रको यह फायदा हुआ, कि कुछ दिनोंके लिए स्कूलसे छुट्टी मिल गई।

१९०१ का सन् था। हरिश्चन्द्र अब १२ वर्ष का हो गया। और

देर तक यज्ञोपवीतको रोकना अच्छा न समझ कर हरिश्चन्द्रका जनेऊ कर दिया गया। स्कूली लड़कोंके साथ लड़केको बिगड़ते देखकर बाबाने सलाह दी, कि उसे स्कूलसे हटा लो। हरिश्चन्द्रका इससे अनिष्ट हुआ, यह कहना मुश्किल है। बहुत से माता-पिता लड़कोंको ठोक-पीट कर एक साँचेमें ढालना चाहते हैं, यद्यपि उनमेंसे बहुतेरे उलटे रूपमें ही सफल होते हैं। लड़के अपने समवयस्कोंसे यदि दुर्गुण सीखते हैं, तो कामकी बातें भी वह उन्हींसे ज्यादा सीख सकते हैं। लड़कोंमें रह कर ही वह साहसके कामोंकी आदत लगाते हैं। यदि हरिश्चन्द्रको स्कूलसे उठाया नहीं गया होता, तो वह कुछ वर्षोंमें हाई स्कूल पास कर लेते। सम्भव है, उच्चशिक्षाका भी रास्ता उनके लिए खुल जाता।

अब पढ़नेके लिए रास्ता यही था, कि बाबा गोपालदासके पास संस्कृत पढ़ें, और घरकी विद्या वैद्यककी भी कुछ हासिल करें। बाबा "सारस्वत" "चन्द्रिका" पढ़े हुये थे और वैद्यकका भी ज्ञान रखते थे। उन्होंने अपने अन्तेवासीको वैद्य बनाने का निश्चय किया। बाबा गोपालदास चिकित्साका व्यवसाय नहीं करते थे। पर, रोगी आते रहते थे, जिन्हें वह मुफ्त दवायें दिया करते। जो रोगी आता, उसीसे दवाकी सब चीजें मँगा लेते, उसीके हाथसे औषधि तैयार कराते। जितनी दवा रोगीके काम आनेसे बच जाती, उसे वह गरीब रोगियोंको दिया करते। बाबाके पास सदा ही कोई न कोई दवा बना ही करती, और कोई न कोई आदमी दवाई के घोटनेमें लगा रहता। वह जड़ी-बूटियों हीकी दवा नहीं जानते थे, बल्कि धातुओं-की भस्में और पारेके योगसे बननेवाले रसोंको भी तैयार कराते थे।

बाबा गोपालदास सबेरे घूमने के लिए जाते समय हरिश्चन्द्र को भी उठा कर साथ ले जाते। घर से आठ मील पर एक पक्का तालाब था। वहीं गुरु और चेले का स्नान होता। तालाब में बाबा ने हरिश्चन्द्र को तैरना सिखला दिया था, जिसका अभ्यास उसने और भी अधिक बढ़ाया। घर पर किसी धातु की भस्म बनाने के वास्ते यदि वनस्पति के रस की भावना देने की आवश्यकता पड़ती, तो वहीं जंगल से हरी से उखड़वा कर साथ लाते। जंगल में आक, धतूरा, ओंधीझाड़ा, पुनर्नवा,

पथरचटा, मकोय, काककँघा, गिलोय, प्रसारणी आदि अनेक प्रकारके वनस्पति थे। इनको उखाड़ते उक्त हरिकी जिज्ञासा हो उठती, तो बाबा उनके नाम, गुण, धर्म सारी बातें समझा कर बतलाते। व्यावहारिक शिक्षासे हरिकी रुचि वनस्पतियोंके बारेमें विशेष जाननेकी हो गई, जो आगे उसके लिये बहुत काम आई।

बाबाने हरिको "सारस्वत" और "अमरकोश" एक साथ पढ़ाना शुरू किया। सबेरे टहल कर आनेपर कुछ खिलाते-पिलाते, फिर "सारस्वत" पढ़ाने लगते। इसी समय कुछ रोगी भी आ जाते। उन्हें देखकर बाबा हरिसे दवा मँगवा और मात्रामें रखकर पुड़िया बँधवाया करते। थोड़े ही दिनोंमें हरिको हरेक दवाकी मात्राका पता लग गया, और वह बिना कहे ही मात्राके अनुसार पुड़िया बना देता। १२ बजे भोजनका समय था। उससे पहले बाबा हरिको पढ़ाई या इसी तरहके दूसरे कामोंमें लगाए रहते। भोजनोपरान्त "अमरकोशकी" पढ़ाई शुरू होती। जिस दिन "बंगवासी" या "वेंकटेश्वर समाचार" आते, हरि पढ़ कर बाबाको सुनाया करता। ४ बजे बाबाकी कथा शुरू होती। उस समय हरिको एक घन्टा खेलनेके लिए छुट्टी मिलती। यह सख्त ताकीद थी, कि शामसे पहले घर लौट आवे। जरा भी देर हुई, कि बाप "अले ·रे" की टेर लगाते ढूँढ़नेके लिए निकल पड़ते। हरि आखिर लड़का था। वह चाहता ही था, कि कुछ देर तक अपने बालसंहातियोंमें रहे। कितनी ही बार आज्ञाके अनुसार न आनेपर पिटाई होती। पढ़नेमें प्रगति अच्छी रही। दो वर्ष बीतते-बीतते हरिने "सारस्वत" पढ़ डाली और "अमरकोशके" भी कई काण्ड याद कर लिए। अब बाबा "सारंगधर" वैद्यक ग्रंथको भी पढ़ाने लगे।

सन् १९०३ था। वर्षाके दिन थे। हरिकी उमर १४ सालकी हो गई थी। पं० मुन्नीलाल पासके गाँवमें घी लेने गये थे। रास्तेमें भींग गये। घर आते ही बुखार चढ़ गया। तीसरे दिन निमोनिया हो गया, और सातवें दिन अपने बेटेको अनाथ छोड़ कर वह संसारसे चले गये। पिता पीटते थे, कड़े स्वभावके थे, लेकिन प्यार भी बहुत करते थे।

इसलिए हरिको उनका वियोग दुःखद हुआ। १४ सालका होनेसे वह निरा अबोध नहीं था। पर, पितासे भी ज्यादा उसे बाबा गोपालदासका प्रेम मिला था। जब तक वह मौजूद थे, तब तक संसारकी आँच नहीं लग सकती थी। कुछ ही दिनोंमें वह पिताको भूल गया। लेकिन, बाबा भी कितने दिन रहने वाले थे? वह ८५ सालके हो रहे थे। पं० मुन्नीलालकी मृत्युके ११ महीने बाद बाबा एक दिन एकाएक मूर्छित हो गये। उन्हें अर्धांग मार गया। दो दिन और रह वह अब वस्तुतः हरिको अनाथ बना कर चले गये। १५ साल का लड़का अब संसारमें अकेला रह गया।

बाबा गोपालदासजीका जन्म कानपुरके आसपास ही किसी गाँवमें हुआ था। घर छोड़नेसे पहले उनकी एक लड़की थी, जिसका नाम नारायणी था, और जो कानपुरके किसी मुहल्लेमें ही ब्याही गई थी। शायद उसे मालूम था कि उसके पिता साधु होकर यहीं रेलगंजमें रहते हैं। बाबा उससे कोई सम्बन्ध नहीं रखते थे। बाबा एक बड़े गोदाम और मकानके स्वामी बन कर रह रहे थे। उनकी मृत्युकी खबर सुनकर नारायणी वहाँ पहुँच गई। बापकी जायदाद काफी थी, और हरि संसारमें अकेला था, इसलिए वह हरिकी अभिभाविका बन कर रहने लगी। पर, उसको हरिसे नहीं, बल्कि हरिकी जायदादसे प्रेम था। स्नेहका दिखावा भर रखती थी, हरिश्चन्द्र इस बात को जानता था। स्वभावतः यदि बिगड़ा या खिलाड़ी लड़का होता, तो हरिश्चन्द्रको यह अच्छा मौका मिला था। पर, वह उस आयुमें पहुँचा था, जब कि मनुष्य अपनी बागडोर अपने हाथमें संभालता है, और बिगड़ीको भी बनानेमें सफल होता है। हरि बाबाके सत्संगमें जन्मसे रहते-रहते बहुत-सी अच्छी बातें सीख गया था। बाबा तेलीके कोल्हूके बैल से थे, उन्हें घुमक्कड़ीका शौक नहीं था। कुछ खास-खास परिचित जगहें थीं, जहाँ वह घूम आया करते थे। यदि वह घुमक्कड़ होते, तो हरिको यात्राकी बहुत-सी कथायें सुननेमें आई होतीं। नारायणीको हरि बूआ कहा करता। बूआके व्यवहारके कारण भी अब उसका मन घरसे उचट गया था।

अध्याय २

गृह-त्याग (१६०६)

वर्ष १५

बाबा गोपालदासके यहाँ कथा-वार्ता और सत्संग हुआ करता था। बाबा स्वयं भी कुछ योग-विधियाँ जानते थे, और उनसे अधिक उनके यहाँ योगकी चर्चा हुआ करती। उनके प्राणायाम और हठयोगके ही कारण आकृष्ट हो कितने ही आर्यसमाजी शामको उनके पास आया करते। दूसरोंके साथ हरि भी आसन मार कर प्राणायाम करनेमें शामिल हो जाता। यह केवल अनुकरण मात्र था, इसमें शक नहीं। पर, कुछ सयाना होनेपर इन बातोंकी ओर उसका आकर्षण बढ़ने लगा। बाबा भक्तोंमें बैठ योगकी सिद्धियोंकी बातें करते, हरिश्चन्द्र को उसे सुननेमें बड़ा रस आने लगता। फिर वह रातको सोते समय बाबासे पूछा करता—"योग करनेसे क्या मिलता है"? "सिद्धियोंको प्राप्त करके आदमी क्या कर सकता है"? "अणिमा, लघिमा, गरिमा आदिका क्या अर्थ है"? "योगबलसे आदमी अन्तर्धान हो सकता है" यह सुन कर हरिश्चन्द्रको और भी जबर्दस्त आकर्षण हुआ। वह बाबाको कई बार तंग करके कहने लगा—"हमें भी इस सिद्धिको प्राप्त करा दें।" बाबा ने कभी नहीं कहा, कि हमें यह सिद्धि नहीं आती, वह यही कह कर सान्त्वना देते, कि अभी तुम पढ़ो। जब समझने लगोगे, तब हम सिद्धियोंकी विद्या सिखा देंगे। बालपनके इस सत्संगसे हरिश्चन्द्रको योगाभ्यासकी ओर भारी आकर्षण हो गया।

बाबाकी शिक्षण-प्रणाली अपनी स्वतः आविष्कृत थी। बतला ही चुके हैं, कि वह शिक्षाके लिए ताड़नको आवश्यक मानते थे। हाँ, उतना नहीं, जितना कि उनके चेले मुन्नीलाल। साथ ही उनका विचार था, कि

बालकको हरेक विषयका कुछ-कुछ ज्ञान हो जाना चाहिये, तभी वह धूर्तों और ठगोंके फन्देमें नहीं पड़ेगा। बाबा गोपलदासकी कथा बड़े रोचक ढंगकी होती थी। उसमें वह जगह-जगह रामायण की चौपाइयाँ, कितने ही श्लोक और बीच-बीचमें चुटकुलोंको मिला कर कहा करते थे। उन्हें सुनते-सुनते हरिश्चन्द्रको पचासों श्लोक अप्रयास ही याद हो गये। अब भी उनमेंसे बहुतेरे याद हैं, जैसे—

येषाँ न विद्या न तपो न दानं न चापि शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मृत्युलोके भुवि भारभूता मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥

(जिनके पास न विद्या, न तप, न दान, और न ही सदाचार, न गुण, न धर्म है वह मृत्युलोकमें पृथ्वीके भार बने मनुष्यके रूपमें मृगकी तरह विचरते हैं।)

मृगा मृगैः संगमनुव्रजन्ति गावश्चगोभिरतुरगास्तुरंगैः।
मूर्खांश्चमूर्खैः सुधियः सुधीभिः समानशीलव्यसनेषु सख्यम् ॥

(मृगोंके साथ मृग, गायोंके साथ गायें, घोड़ोंके साथ घोड़े अनुगमन करते हैं। और मूर्खोंके साथ मूर्ख, सुबुद्धियोंके साथ सुबुद्धि। एक समान शील और दुःखवालोंमें मित्रता होती है।)

जाड्यं धियो हरति चिंतति वाचि सत्यं,
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
चेतः प्रसादयति दिक्षु करोति कीर्तिं,
सत्संगतिः कथम किं न करोति पुंसाम् ॥

वह बुद्धिकी जड़ताको हरती है, बचनमें सत्यको लाती है। मान-उन्नतिको बतलाती है, पापको दूर करती है। चित्तको प्रसन्न करती है, चारों ओर कीर्ति बढ़ाती है। बताओ सत्संगति पुरुषोंको क्या नहीं करती ?

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः,
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः,
प्रारभ्य चौत्तमजना न परित्यजन्तिः।

(नीच पुरुष विघ्नके भयसे काम आरम्भ नहीं करता, प्रारम्भ कर विघ्न होनेपर मध्यम लोग काम बन्द कर देते हैं। विघ्नोंसे फिर-फिर ताड़ित होनेपर भी, काम आरम्भ करके उत्तम जन उसे नहीं छोड़ते।)

आरम्भमें यह श्लोक कानोंमें पड़नेपर एक मधुर ध्वनिसे बढ़ कर हरिके लिए कोई अर्थ नहीं रखते थे, लेकिन पीछे वह इनके अर्थ समझने लगा और उसके जीवन पर इन्होंने प्रभाव भी डाला। बाबा कहते थे—"बालक तो कोरे कागज जैसा है। जैसा चाहो उसपर लिख डालो। वह तो कुम्हारके मिट्टीके लोंदे जैसा है, जैसा चाहो वैसा बना लो।" बाबाकी यह बात बहुत कम सत्यका अंश रखती थी, तो भी वह उसीके अनुसार बालकको बनानेकी कोशिश करते, उसे नीतिके श्लोक सुनाते और अर्थ बतलाते थे।

बाबा गये और बूआने आकर अब घर सँभाल लिया था। वह कड़े स्वभावकी थी, या कहिये बालकके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, इसे मानती थी। हरिश्चन्द्रका मन घरसे उखड़ गया था। रामनवमीका दिन नजदीक आया। बाबा गोपालदासकी कथा सुननेवाले कुछ लोग अयोध्यामें रामनवमीकी यात्रा करनेकी तैयारी कर रहे थे। हरिको जब इस बातका पता लगा तो उसने उनसे साथ ले चलनेके लिए आग्रह किया। वह तैयार हो गये। बूआ तो चाहती ही थीं कि किसी तरह यह बला टले। कहीं ऐसा न हो कि दो-चार वर्ष बाद यह घरका मालिक बन जाय। उन्होंने बालकके विचारका समर्थन किया और यात्राके लिए कुछ रुपये भी दे दिए। सभी लोगोंके साथ हरिश्चन्द्र भी रेलपर बैठ गया और उन्नाव, लखनऊ, बाराबंकी, फैजाबाद होते अयोध्या पहुँचनेमें देरी नहीं लगी। अयोध्या रामका जन्मस्थान है और रामभक्त वैरागियोंका शहर, इसलिए वहाँकी रामनवमी बड़े धूमधामसे हुआ करती है। हजारों मन्दिर और मठ हैं, जिन्हें खूब सजाया जाता है। यात्री मन्दिरोंका दर्शन करते थकते नहीं। दिन भर दर्शन करनेके बाद साथियोंके साथ हरिश्चन्द्रने रात नगर-के एक छोरपर सरयूके किनारे बाबा रघुनाथदासकी छावनीमें बिताई।

सबेरे उठकर हरिश्चन्द्रने अपने चारों ओर नजर दौड़ाई और हरेक

बातको ध्यानसे देखने लगा। कितने ही साधु कमण्डल लिए बाहर गये। शौच और सरजूजीमें स्नान करके लोटोंमें कितने ही शरीरपर भस्म चढ़ाने लगे। कोई जटा ठीक करने लगा और कोई जूड़ा सँवारने लगा। पंचाग्नि तापनेवाले कण्डोंकी ढेरी जोड़ कर दोपहरकी धूपमें आगके बीच बैठनेकी तैयारी करने लगे। कितनोंने बड़े छत्तेके नीचे ठाकुरजीका सिंगार करके पूजा करना शुरू किया। किसीके सामने मालाका ढेर लगा हुआ था, जिसे वह अँगुलियोंसे सटका रहा था। कोई-कोई मुँहको कपड़ेसे ढाँक ध्यानमें मग्न थे। हरिने अब तक ऐसा दृश्य कभी नहीं देखा था। एक बाबा गोपालदासको ही वह जानता था और वह इन सब बातोंसे परे थे। वह बहुत प्रभावित हुआ।

बाबा रघुनाथदासकी छावनी अयोध्यासे बाहर थी। अभी वह धीरे-धीरे जम ही रही थी। मन्दिर बन चुका था और महन्त ईश्वरदासकी गद्दीका स्थान बनने लगा था। मकान अधिक नहीं थे, कुछ झोपड़ियाँ थीं और कुछ बड़े-बड़े छत्ते लगे थे। स्थानमें सौ-डेढ़ सौके करीब साधु पड़े थे। इसमें शक नहीं, रामनवमीके कारण संख्या इतनी थी, नहीं तो कम ही साधु बराबर रहा करते थे।

साधु हरिदास—साधुओंको उस तरह पूजा-पाठ और ध्यान-मग्न देखकर हरिको आकर्षण हुआ। वह सोचने लगा, इन्हींमें योगी और पहुँचे हुए महात्मा भी होंगे। योगी-तपस्वी, जटाजूटधारी होते हैं, इसे वह रामायणकी चौपाइयोंसे जानता था। वह भी स्नान करने सरजू गया और लौटकर फिर छावनीमें आ गया। देखा, महन्त ईश्वरदास गद्दीपर विराजमान हैं। भक्त लोग भेंट-पूजा दे रहे हैं। महन्तजी उन्हें उपदेश भी कर रहे हैं। कुछ उनसे गुरुदीक्षा भी ले रहे हैं। कुछ चेला हो साधु बन रहे हैं। हरिश्चन्द्रने भी महन्तजीसे चेला बननेकी प्रार्थना की। उसमें क्या दिक्कत थी, जबकि साधुओंका सिद्धान्त ठहरा "मूँड़ दिया माँग खाओ।" महन्तजीने हरिश्चन्द्रके कानमें राममन्त्र फूँक दिया, और नाममें-से चन्द्र निकाल कर दास जोड़ दिया—अब १५ वर्षकी उमरमें कानपुरके तरुणने एक नये जीवनमें प्रवेश किया। चेला बनानेके बाद महन्त

ईश्वरदासने तरुण साधुकी शिक्षा-दीक्षाके लिए अपने एक बड़े चेलेको सुपुर्द कर दिया। जिसने उन्हें वैरागियोंका करम-धरम सिखलाना शुरू किया : कैसे तिलक लगाना चाहिए, कैसे अँचला बाँधना चाहिये, कैसे बैठ कर भोजन करना चाहिये। हाँ, चावल-दालसे, कंकड़-पत्थर निकालनेको, साफ करना नहीं, बल्कि अमनिया करना कहना चाहिए। छुरी नहीं कहना, उसकी जगह चाकू कहना चाहिए। खाना कहना बुरा है, क्या कोई डायन राक्षस है कि खायेगा। साधुकी बोलीमें इसे "पावना" "पवाना" कहना होता है। साधुकी अपनी बोली होती है और उसको कितने परिश्रमसे सीखना पड़ता है, इसे जाननेके लिए यह कहावत काफी है—"बारह बरस रहे साधुकी टोली। तब पावे एक टुटही बोली।" टट्टी जाना साधुकी बोलीमें डोलडाल है, और पेशाब लघुशंका। बड़े-छोटेसे दण्डवत् करनेका भी खास तरीका है। साधुओंके ऐसे पचासों कोड वर्ड (सांकेतिक शब्द) हैं, जिनको उनमें रहे बिना कोई आदमी समझ नहीं सकता। नकली आदमी अपने चाल-व्यवहार, वेष-भूषा और बोली-वाणीसे पहचान लिया जाता है। फिर उसके लिए साधुओंमें ठिकाना नहीं रहता।

पहले दिन छावनीकी साधु-मण्डलीमें निरे तपस्वी, योगी, सिद्ध, महात्मा दिखलाई पड़ते थे। लेकिन, वहाँ रहते-रहते दूसरे ही रूपमें देखा। भभूत मलकर धूनी रमानेवाले हों, चाहे पद्मासन लगा ध्यानावस्थित होनेवाले हों। धूपमें धूनी तापनेवाले या आँख मूँदकर हजारा माला सटकानेवाले, सभीके काम ढोंगके लिए थे। जब वह देखते, कि कोई गृहस्थ दर्शनके लिए आ रहा है, तो वह तुरन्त अपने-अपने पूजा-ध्यानमें लग जाते। मालूम होता, महात्मा रात-दिन इसीमें व्यस्त रहते हैं। जब गृहस्त चले जाते तो सबकी समाधि खुल जाती, हजारामालाको अपनी जगह रोनेके लिए छोड़ दिया जाता। फिर एक दूसरेसे पूछने लगते—"भक्तने क्या चढ़ाया ?" "तुम्हें क्या दे गया ?" "ठाकुरजीके आगे क्या-क्या चढ़ाया।" यदि किसी भक्तने कुछ नहीं चढ़ाया, तो उसे कंजूस, मक्खी-चूस कह कर पीठ पीछे धिक्कारते। वहाँ बस यही चर्चा रहती—"आज

महन्तजीकी गद्दीपर इतना चढ़ावा चढ़ा। आज अमुक भगतने ठाकुरजीके आगे इतने रुपये प्रदान किए। (आज अमुकने काली रोटी, धोली दालका) भण्डारा दिया। साधुओंकी बोलीमें काली रोटीका अर्थ मालपूआ, और धोली दालका अर्थ है खीर। यही चर्चा वहाँ सुनाई देती। इसके अतिरिक्त फिर वह तीर्थाटनकी भी बातें करते। तीर्थाटनमें घुमक्कड़ीकी बातें भी सुननेमें आती थीं और वह काफी आकर्षक होती थीं। पर बाबा हरिदासको उससे कोई मतलब नहीं था। वह तो सिद्धि प्राप्त करके अदृश्य हो जानेकी युक्ति जानना चाहते थे। वैरागी साधुओंमें शिक्षाका उस समय बिल्कुल अभाव-सा था। वह कहा करते थे, "पढ़ै लिखै बाभनका काम। भज वैरागी सीताराम।" पढ़नेको बल्कि दोष समझा जाता था, क्योंकि पढ़ा-लिखा आदमी उनके मोटे-झोटे व्यवहार-बर्ताव, भक्ति-पूजाको पसन्द नहीं करता। किसीने यदि टो-टा कर "रामचरित मानस" पढ़ लिया तो वह बड़ी बात थी। १५ वर्षके बाबा हरिदास अन्धोंमें काने राजा थे, इसमें सन्देह नहीं।

छावनीमें दो मास रहनेपर हरिदासको पता लग गया कि यहाँ न कोई सिद्ध है न कोई योगी। बस अपनेसे बड़ोंकी सेवा-टहल करो और रोटी खा पड़े रहो। हरिदासके पाँच वर्ष बाद रामनवमीके समय (१९१० ई०-में) इन पंक्तियोंका लेखक भी अयोध्या पहुँचा था। संयोग ही कहिये, एक दिन वह भी बाबा रघुनाथदासकी छावनीमें जाकर ठहरा था, और वहाँ रामनवमीके दिन आये कितनों हीको चेला बनते देखा था। उमर भी करीब-करीब बाबा हरिदास हीकी थी। पर, इन पंक्तियोंका लेखक तब तक दो बार कलकत्ता तककी उड़ान कर चुका था और वेदान्ती महात्माके सम्पर्कमें आनेसे पूजा-पाठको तुच्छ और ब्रह्म तथा योगको बड़ा मानता था। इसीलिए कई बार कहनेपर भी वह अयोध्यामें किसीका चेला नहीं बना।

चित्रकूट—१९०५की वर्षाके पूर्व ही कुछ साधु अयोध्यासे प्रस्थान करने लगे। उनका लक्ष्य तो कुछ महीने बाद (१९०६ ई०) होनेवाले प्रयागके कुम्भमें जानेका था। लेकिन, कई महीने थे, इसलिए उन्होंने

घूमते-फिरते वहाँके लिए प्रस्थान किया। पाँच-सात मूर्तियोंकी मण्डली थी, जिनमें कुछके साथ हरिदासका अब अधिक सम्पर्क हो चुका था। इसलिए उनको जाता देखकर बाबा हरिदासकी भी इच्छा हो आई। महन्तजीके हर रामनवमीपर बीसियों साधु चेले होते थे। सबको समेट कर मठमें रखनेकी गुंजाइश कहाँ थी? आज्ञा माँगनेपर उन्होंने कहा— "जाते हो तो कुम्भ ही नहीं, बल्कि चारों धाम करके आना। द्वारिका, जगन्नाथ, रामेश्वर, और बदरीनाथको वैरागी साधु चारों धाम कहते हैं। चारों धाम कर आये साधुको टकसाली बड़ा साधु माना जाता है। हरिदास दूसरोंके साथ अपना आसन कंधेसे लटकाये हाथोंमें कमंडल लिए चल पड़े। गाँव-गाँव विचरते वह चित्रकूटकी ओर चले। जहाँ कोई वैरागी साधुकी कुटिया होती, वहाँ वह विश्रामके लिए ठहर जाते। उस समय साधुओंमें संकीर्णता बहुत थी और किसी मठमें अपने ही सम्प्रदायके साधुको रहने दिया जाता था। कबीरपंथी भी रामानन्दके ही अनुयायी होनेसे वैरागी हैं, पर उन्हें भी वैरागियोंके मठोंमें जगह मिलती थी। कहीं यदि दूसरे सम्प्रदायके साधुको रहनेकी जगह मिल भी जाती, तो उसे पाँतीमें बैठ कर भोजन नहीं करा अलग अछूतकी तरह दे दिया जाता, जो अपमानकी बात थी। इसीलिए साधु अपने-अपने सम्प्रदायके मठोंमें ही जाकर उतरते थे। अब तो बहुत उदारता आ गई है। कालका प्रभाव होना ही चाहिये। जहाँ साधुका स्थान होता, मठ या कुटिया होती, वहाँ तो अभ्यागतोंके भोजनके लिए पाससे या माँग-याच कर प्रबन्ध करना स्थानीय साधुका कर्तव्य था। जहाँ वैसा कोई स्थान न मिलता, वहाँ बाबा हरिदासके साथके तजर्बेकार साधु चेता कर भोजन का प्रबन्ध कर लेते। हरिदास पढ़े-लिखे थे। वह रामायणकी कथा अच्छी तरह कह लेते थे। बाबा गोपालदासकी कथा और सत्संगमें रहनेसे भी उन्हें लाभ हुआ था। अभी बालगोपाल थे, इसलिए तरुण हरिदासकी कदर हो गई थी। इसका फल यह हुआ था, कि उन्हें जूठे बर्तन धोने-माँजने या रसोई बनानेका कड़ा काम नहीं दिया जाता था। बहुत हुआ,

तो ठाकुरजीकी पूजा कर ली। घूमते-घामते वर्षा होनेसे पहले ही वह चित्रकूटमें पहुँच गये। अनिवार्य नियम तो नहीं है, पर अक्सर चौमासा रहनेके लिए साधु किसी स्थानपर ठहर जाते हैं। यह प्रथा बुद्धकालसे ही चली आती है। वर्षा समाप्तिके बाद अश्विनकी पूर्णिमाको बौद्ध प्रावारणा करते हैं। उस दिन भिक्षु चौमासा पूरा करके चारिकापर निकालनेवाले होते हैं। गृहस्थ सुन्दर भोज करते हैं, और भिक्षुओंको वस्त्र या कोई और चीज प्रदान करते हैं। भारतके दूसरे साधुओंमें भी कुछ न कुछ इसका अनुकरण अब भी होता है। हरिदास चित्रकूटमें चौमासा रहते ऐसे समय पहुँचे थे, जब कि उस पार्वत्य भूमिका प्राकृतिक सौंदर्य बहुत बढ़ जाता है, चारों तरफ हरियाली ही हरियाली दिखाई पड़ती है। कामतानाथ (कामदगिरि) चित्रकूटका सर्वपुनीत पर्वत है। बल्कि इसका नाम ही चित्रकूट था, जिसे सभी कामनाओंकी प्रदान करनेवाला बतलाते कामदगिरि कहा जाने लगा, और उसे ही आजकल कामतानाथ कहा जाता है। वनवासके समय राम-लक्ष्मण-सीताने इसीके ऊपर निवास किया था, इसलिए इसे बहुत पवित्र माना जाता है और लोग बड़ी श्रद्धासे उसकी परिक्रमा करते हैं। परिक्रमामें जगह-जगह मन्दिर और मठ बने हुए हैं।

चौमासा समाप्त कर कातिकमें जमात अब प्रयागकी ओर चल पड़ी। उसे सीधे प्रयाग जानेकी जल्दी नहीं थी, इसलिए नदीकी धारकी तरह इधर-उधर घूमती गाँव-गाँवका दाना-पानी लेती वह आगे बढ़ रही थी। साधुओंमें रहते अब हरिदासको आठ महीने हो चुके थे और उनकी सभी बातोंसे परिचित थे। पैदल-यात्राका भी उनको अनुभव हो गया था। घरका कोई आकर्षण नहीं था। उनके लिए एक दूसरा चलता-फिरता घर तैयार हो गया। हरिदास पहले सोचते रहे होंगे, बिना पैसा-कौड़ीके परदेशमें क्लेश होता है, पर अब उन्होंने देख लिया कि कौड़ी भी पास न रहनेपर साधुको भूखे रहनेकी कभी नौबत नहीं आती और न भिखमंगोंकी तरह किसीके सामने हाथ पसारने या झिड़की खानेकी ही जरूरत पड़ती है। गाँव हो, कस्बा या शहर हो, सभी जगह भगत साधुको भोजन दे पुण्य कमानेके लिए लोग तैयार मिलते। वैरागी होनेसे बाबा हरिदास और

उनके साथी कच्ची रसोई किसीके हाथकी नहीं खा सकते थे। हाँ, पक्की रसोईमें उन्हें एतराज नहीं था, यदि बनानेवाले उन जातियोंमेंसे हों, जिनका पानी चलता है। हर जगह काली रोटी धौली दाल या सीरा-पूड़ी कहाँसे मिल सकता था, विशेषकर गाँवोंमें ? उस समय अनाजका भाव (गेहूँ १५-१६ सेर) बहुत सस्ता था, किसी भी साधारण गृहस्थके घरपर एक-दो साधुओंके आ जानेपर उसके ऊपर बहुत भार नहीं पड़ता था। कभी जमातको गेहूँका आटा, अरहरकी दाल और भाजी भोजन बनानेके लिए मिलती। साधुकी भाषामें—तरकारी या साग-सब्जी कहना अक्षंतव्य अपराध है। वह उसे भाजी कहते हैं। कभी जौ-चना मिला हुआ आटा ही मिलता, और वह बेझरकी रोटी बनाते। बाजरेके आटेकी रोटी भी खानी पड़ती। भाजी न होनेपर आमका अचार या कोई चटनी मिल जाती, जिसके साथ इस रूखे-सूखे टुकड़ोंको खानेमें हरिदासको बड़ा स्वाद आता। उस स्वादकी स्मृति आज भी उनके लिए मधुर है, यद्यपि उसे सामने रख दिया जाय, तो शायद ही वह उतना मधुर मालूम हो।

अयोध्यामें अपने गुरु-स्थानमें हरिदास सभी साधुओंके साथ पंगतमें बैठ कर भोजन कर लिया करते। उन्हें यह नहीं मालूम होता था, कि भोजन-सामग्री कहाँसे आती है, कैसे आती है। तुलसीदासने साधुओंपर अनन्त उपकार किया है। उन्होंने सन्तोंकी सेवाकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है, उसे पुण्यार्जनका बहुत बड़ा साधन बतलाया है। उसी प्रचारका यह फल है, जो कि गृहस्थ साधुओंके लिए आखें बिछानेके लिए तैयार रहते हैं। तुलसीकी चौपाइयाँ केवल पढुओं तक ही सीमित नहीं हैं, वह अपढ़ोंकी जीभपर भी नाचती रहती हैं। फिर साधु-सन्तोंकी आव-भगत करनेके लिए लोग तैयार हों, तो आश्चर्य क्या ? इसके अतिरिक्त हमारा देश अतिथि-सेवाको हमेशासे अपना परम कर्तव्य समझता रहा है। बाबा हरिदासने पिता और बाबाकी छत्रछायासे वंचित होनेपर कभी नहीं आशा की थी, कि उन्हें ऐसा निश्चिन्त जीवन बितानेका मौका मिलेगा। भोजन ही क्यों, संतोंमें कुछ गाँजा और भाँगका भी सेवन करते थे।

कंकड़की चिलम साथ-साथ चलती थी। भक्त लोग इसका भी जुगाड़ करते थे। उन्हें आकर्षण करनेके लिए चिलम बड़ा साधन थी। यह समझना भी मुश्किल है, कि तीन-चार शताब्दियों पहले, जब भारतमें तम्बाकू नहीं आया था, उस समय सन्तोंकी धुनी कैसे गुलजार रहती होगी।

केवल रामानन्दके अनुयायियोंको ही वैरागी साधु नहीं कहते, बल्कि उनमें रामानन्द, निम्बारक, हरिव्यास और गौड़िया चारों सम्प्रदायोंके साधु सम्मिलित हैं। सब की अपनी-अपनी परम्परायें हैं। पोशाक प्रायः एक-सा ही है। हाँ, तिलकमें अवश्य भेद होता है। हरिव्यासी, निम्बारक और गौड़िया वैरागियोंके अपने तिलकोंमें उतना भेद नहीं है, न इन सम्प्रदायोंके साधुओंकी संख्या ही अधिक है। पर, रामानन्दी संख्यामें सबसे अधिक हैं और उनके तिलकोंमें भी बहुत अन्तर आ गया है। आरम्भमें रामानुजी वैष्णवकी तरह नाकपर सफेद सिंहासन बना, दो सफेद लकीरोंके बीच में एक लाल लकीर उनका तिलक था। किन्हींने लाल लकीरको हटा कर उसेभी सफेद कर दिया। उन्हें शुक्लश्री या लश्करी साधु कहते हैं। अपना-अपना पंथ निकालने और नाम अमर करनेकी लालसा सभी जगह देखी जाती है। एक महात्माने लालश्रीको हटाकर उसकी जगह सफेद बिन्दी लगाई। पूछनेपर बतलाया, कि जानकी महारानीने स्वयं अपनी ही बिन्दीको सफेद बना कर मेरे सिरमें लगा दिया। फिर क्या था, बिन्दीवाला सम्प्रदाय चल पड़ा। बिन्दीमें भी कोई चवन्नी भरकी बिन्दी लगाता तो कोई अठन्नी भरकी। इस प्रकार छोटी बिन्दी बड़ी बिन्दी वाला सम्प्रदाय चल पड़ा। बिन्दीवालोंमें ही एक महात्माको रामजी तब मिले, जब वह स्त्रीका रूप लेकर सखी मत चलानेमें सफल हुए। उन्होंने बिन्दीके ऊपर सीताजीकी चन्द्रिकाका छाप लगाना शुरू किया। लाल बिन्दीवाले सखी मतमें दीक्षित हुए तो उन्होंने अपने-अपने श्रीके नीचे जानकी महारानीकी भी बिन्दी लगानी शुरू की। यह सभी रामानुजी तिलकके ही भिन्न-भिन्न विकार हैं।

वैरागी साधु सफेद वस्त्र पहनते हैं, जिसे पीला भी रंग सकते हैं।

अबतो मेरे मित्र श्री भागवताचार्यकी कृपा से गेरुआ वस्त्र पहननेवाले भी वैरागी मिलने लगे हैं। वस्त्र या तो कमरमें लिपटा तहमतकी तरहका होता है, या विशेष ढंगसे उसे दोनों कन्धोंपर डाल कर ऐसे बाँधते हैं, कि वह घुटनों तक पहुँचता है। दोनोंको अँचला कहते हैं। हर हालतमें कोपीन (लँगोटी) रखना जरूरी है। अँचला धारण करनेवालेको वस्तरधारी कहते हैं। वह चाहे तो चुटिया रख कर सिर-दाढ़, केश-दाढ़ी मुड़ा सकते हैं, या सभी बाल रख सकते हैं। पर, केवल दाढ़ी बनाना या मूँछ रखना या बालको कैंचीसे कटाना-छटाना वर्जित है। अब इसमें कुछ अपवाद भी होने लगे हैं, जिनको शुरू पहलेपहल दसनामी संन्यासियोंने किया।

एक हिन्दीके विद्वान लेखकने यों ही अटकल पच्चू अनुसन्धान कर मारा, कि वैरागियोंमें तपसी एक सम्प्रदाय होता है। वस्तुतः तपसी जटाधारी वैरागीको कहते हैं। जटाधारी होनेके लिए यद्यपि भभूत धारण करना अनिवार्य नहीं है, पर अक्सर जटा-भभूत साथ-साथ चलती हैं। तपसी मूँजकी मोटी कर्धनी पहनते और उसमें पतली कपड़ेकी कोपीन डाल लेते हैं। कोई-कोई मूँजकी या काटकी कोपीन बनाते हैं। काठवालों को काठिया बाबा कहते हैं। कोपीनके ऊपर अँचला लगाना अपनी इच्छा पर है। इन्हींको तपसी या (तपस्वी) कहते हैं। तपस्वी लोगोंके लिए चिलम और धुनी अत्यावश्यक चीज है। इस भेष और चिलमधुनीमें आकर्षण भी बहुत है। तपसी होकर जो गाँजा-चिलम न पिये, तो तपसी काहेका? कितने ही तपसी गर्मियोंमें पंचधुनी भी तापते हैं। वैरागी स्थानोंमें बहुतोंके संस्थापक यही तपसी रहे हैं। तपसीके गलेमें कोई मणियोंकी कण्ठी नहीं, बल्कि तुलसीका एक मोटा सा दाना जनेऊमें बँधा रहता है, जिसे हीरा कहा जाता है। साधारण लोग वस्त्रधारियोंसे अधिक तपसीका सन्मान करते हैं, क्योंकि उनमें विचित्रता होती है। रामानन्दि-योंमें इस तरह कई तिलक-छाप और वेष-भूषाके कारण कितने ही स्थायी या अस्थायी भेद होते हैं, पर वह सब अपनेको एक ही सम्प्रदायका अनुयायी मानते हैं। सिद्धान्तोंमें दूसरे तीन सम्प्रदायोंके साधुओंसे तिलक-छापमें भेद रखनेपर भी रामानन्दी खान-पान आदिका कोई भेद नहीं

रखते, और चार सम्प्रदायकी एक समान जय मनाते हैं, तथा सबके लिये अपना दरवाजा खुला रखते हैं।

रामानन्द मुस्लिम शासनके आरम्भिक कालमें प्रयागमें पैदा हुए। वह रामानुजके सम्प्रदायमें राघवानन्दके शिष्य हुए। उस समय रामानुजी सम्प्रदायको उत्तरमें कोई नहीं जानता था, और न उसके आचार-विचारको द्रविड़ देशके रूपमें लेकर इधर चलाया जा सकता था। इसलिए रामानन्दने उसमें अनेक परिवर्तन किये। रामानुजी सम्प्रदाय भक्ति प्रधान सम्प्रदाय है। उत्तरमें भक्तिकी परम्परा वैसी नहीं थी, इसे नहीं कहा जा सकता, पर नाथ-पंथ, शंकर-पन्थ और बौद्ध सिद्धोंके प्रभावके कारण ध्यान और योगकी महिमा यहाँ अधिक थी। साथ ही मुस्लिम शासनमें रहनेके कारण आचार-विचारमें भी यहाँ अधिक उदारता आ गई थी। इन सबका ख्याल करके रामानन्दने वैष्णव धर्मको देश-कालानुकूल बनाया। उनकी विचारधाराका सबसे बड़ा समर्थक तुलसीका "रामचरित मानस" है, जिसमें भक्ति पर ही सबसे अधिक जोर दिया गया है। रामानुजी शिवके दर्शनमें भी पाप मानते हैं। रामानन्दने इस भाव को हटा दिया, जिसे हम तुलसीकी कृतिमें देख सकते हैं। ज्ञानमार्गकी परम्परा रामानन्दके वैरागियों से अधिक कबीरपन्थियोंमें मिलती है। रामानन्दका योग और ध्यानके ऊपर भी विशेष जोर था, जिसका पीछे इतना कम प्रचार हुआ, कि उसे एक प्रकारसे हम लुप्त कह सकते हैं। रामानन्दके अनुयायी सारे उत्तर-भारतमें छाये हुए हैं। उनके मठ दक्षिण भारतमें यद्यपि कम हैं, पर वहाँ भी उन्होंने तिरुपतिके बालाजी जैसे समृद्ध मठको स्थापित किया था, जिसकी वार्षिक आमदनी कई लाख थी।

रामानन्दी वैष्णवोंमें अब विद्वानोंकी कमी नहीं है। पण्डित भागवताचार्यजी संस्कृतके दिग्गज विद्वान् हैं। उन्होंने रामानन्दियोंको रामानुजियों की पूँछ बननेसे बचा कर आत्मगौरव बढ़ानेका सबसे बड़ा काम किया। नई पीढ़ीमें विद्वानोंकी काफी संख्या देखी जाती है। उनमें कुछ आधुनिक शिक्षाप्राप्त भी हैं। रामानन्दी सम्प्रदाय और उसके हजारों स्थानोंकी परम्परायें अधिकतर मौखिक चली आई हैं, जिनके तेजीसे लुप्त होनेका

डर है। क्या उनमें कोई ऐसा नहीं निकल आ सकता, जो सम्प्रदायके विस्तृत इतिहासको वैज्ञानिक ढंगसे लिखे।

यद्यपि आजके रामानन्दी या दूसरे वैष्णव सम्प्रदाय दक्षिणके वैष्णव-वादियोंसे जलाये हुए दीपक हैं। पर, इसका यह अर्थ नहीं, कि उत्तरमें वैष्णव धर्म कभी बहुप्रचलित नहीं था। गुप्तराजा (चौथी-पाँचवी सदी ईसवी) अपनेको वैष्णव कह कर अभिमान करते थे। उस समयके बहुतसे वैष्णव मन्दिरों और मूर्तियोंके अवशेष अब भी मिलते हैं। संकर्षणवासुदेवकी पूजाके रूपमें वैष्णव धर्म पुरातात्विक सामग्रीके बलपर ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी तक पहुँचता है।

रामानन्दने एक बड़ा सुधार यह किया, कि वैष्णवोंको कूपमण्डूकतासे बाहर निकाला, और निर्द्वन्द्व घूमनेवाले घुमक्कड़ पैदा किये। यद्यपि कच्ची-पक्कीका भेद रखनेसे घुमक्कड़ीमें बाधा जरूर रहती है, पर उसमें आचारियों की-सी कड़ाई नहीं रखी।

प्रयाग कुम्भ—पुराने कालमें जिसे साधु लोग "विहार करना" कहते थे, और आज जिसे विचरना कहते हैं, उसीको साधुओंकी भाषामें रामत करना कहा जाता है। वस्तुतः बिहार करना और भ्रमर करना एक ही बात है। बाबा हरिदास अपने दूसरे साधु मित्रोंके साथ रामत करते धीरे-धीरे जनवरी (१९०६) के आरम्भमें, कुम्भसे कुछ पहले प्रयाग पहुँचे। कुम्भकी भीड़के बारेमें क्या पूछना ? आजकी तरह विज्ञापनके साधन उस समय अधिक नहीं थे, और न देशके देवों-महादेवोंके आनेकी सम्भावना थी, क्योंकि देश अंग्रेजोंके अधीन था। देवों और महादेवोंके आनेसे प्रयाग-कुम्भवालोंको यही लाभ तो हुआ, कि इन्तिजाम करनेवाली पुलिस देवों-महादेवोंकी सेवा सत्कारमें चली गई, मेलेका प्रबन्ध नहीं हो सका, और हजारों आदमी कुचल कर मर गये। लेकिन, साधुओंकी संख्या इन मेलोंपर पहलेके बराबर अब नहीं होती। उनकी भी संख्या घट गई है, यह भी कारण है। हमारे देशमें हरद्वार, प्रयाग, उज्जैन और नासिकके चार कुम्भ बारह-बारह सालपर अलग-अलग समय में लगते हैं। हरेक

जगहकी अर्ध-कुम्भी भी होती है, जैसे इस साल (१९५६) १३ अप्रैल को हरिद्वारमें।

इन कुम्भोंका आरम्भ किसने किया, यह कहना मुश्किल है। कुम्भ के चारों स्थान पवित्र तीर्थ हैं विशेष समयपर वहाँ मेले लगते होंगे। कमसे कम प्रयागमें तो हर पाँचवें साल बड़े मेलेके होनेका उल्लेख स्वेन-चाङ्ने सातवीं सदीके पूर्वार्धमें किया है। पर, बारह-बारह सालपर और एक दूसरे स्थानसे विशेष समय-सम्बन्ध रखनेवाले मेलोंके आरम्भ का पता नहीं लगता। संभव है, वह मुस्लिम कालके आरम्भमें या उससे थोड़ेसे पहले शुरू हुआ हो। मेलोंकी सबसे रौनक है अखाड़ोंकी शोभा-यात्रा। इनमें सन्यासी (दसनामी), वैरागी और उदासी तीनोंके ही अखाड़े मुख्य होते हैं, नाथ-पन्थ पुराना सम्प्रदाय है, लेकिन न उनके अखाड़े होते हैं और न नहानेमें प्रतिद्वंद्विता। किसका अखाड़ा पहले स्नान करने जाय, इसके लिए संन्यासी और वैरागी अखाड़ोंमें हमेशा प्रतिद्वंद्विता रही है। पुराने कालमें इसके लिए खूनकी नदियाँ बह जाती थीं, लेकिन अब बहुत समयसे शासकोंने विशेष नियम बाँध दिये हैं, जिसके कारण खून-खराबीकी नौबत नहीं आती। इस वक्त साधुओंका काम ज्ञान-ध्यानसे नहीं, बल्कि लोहेके हथियारोंसे चलता है। जिसके पास अधिक लोहा है, वही अपनी मनवा सकता है। इसे देखकर बाज-बक ख्याल आता है, कि साधुओंमें अखाड़ोंके रूपमें सैनिक संगठन क्या कुम्भके लिए तो नहीं हुआ? अखाड़ोंमें बारूद-युगके पहलेके हथियारोंके साथ तरुण साधुओंको बाकायदा सैनिक शिक्षा दी जाती है। रंगरूट भरती किये जाते हैं। अखाड़ोंके अफसर (नागा)के अधीन उनकी वर्षों शिक्षा होती है, हथियार चलानेकी भी और अनुशासनकी भी। फिर यह रंगरूट (हुड़दंगे) बड़ी धूमधामसे नागे बनाये जाते हैं, जो बारह वर्ष सेवा करनेके बाद अतीतके महापदको प्राप्त करते हैं। अखाड़ोंका संगठन और व्यवस्था बिल्कुल जनतान्त्रिक है।

केवल कुम्भोंमें लड़नेके लिए ही साधुओंने अपनी सैनिक अखाड़ाबन्दी नहीं की। शायद इसमें अपनी प्रतिरक्षा या प्रतिद्वन्द्वीपर आक्रमण करने-

की प्रवृत्ति भी कारण रही हो। एक सम्प्रदायके मठपर दूसरा सम्प्रदाय जबर्दस्ती अधिकार कर लेता था। जनसाधारण साधुओंके झगड़ेमें तटस्थ रहना पसन्द करता। अंग्रेजी शासनके पहलेके शासक यदि तटस्थ होते, तो मठोंका हस्तान्तरण होना आसान था। ऐसे समय सैनिक साधुओंकी मंडली (अखाड़े) ही रक्षा कर सकते थे। अब अखाड़ोंकी पुरानी सैनिक आवश्यकता नहीं रही, तो भी अखाड़ेके नागा अपने घोड़े-ऊँटों-हाथियोंको लिए अपने सम्प्रदायके जिस मठमें भी चले जायें, वहाँ सेवा-सत्कार प्राप्त करना उनका अधिकार था। इस तरह घूमती छोटी-छोटी मंडलियाँ कुम्भके समय बड़ा रूप ले लेती हैं। उनके पास बहुतेरे ऊँट, कितने ही घोड़े और हाथी होती हैं। जरीसे रेशमपर काम किये हुए सुन्दर झण्डे-निशान—फहराते जब यह बड़ी जमात चलती, तो समाँ बँध जाता था। वैरागी साधुओं में नंगा रहना बिल्कुल पसन्द नहीं किया जाता, लेकिन संन्यासियोंमें दिगम्बर रहना प्रशंसाकी बात समझी जाती है। इसलिए नागा या नंगा शब्द उन्हींके लिए उपयुक्त था। वैरागियोंका भी अपने सैनिकोंके लिए नागा शब्दका प्रयोग करना यही बतलाता है, कि शायद अखाड़ेकी प्रथा दसनामियोंसे ही शुरू हुई। पर, दसनामी (संन्यासी) के कहनेसे यह नहीं समझना चाहिए, कि दसनामी अखाड़ेकी स्थापना भी अपने पंथके साथ शंकराचार्यने की।

एक और धारणा शंकराचार्यके अनुयायियोंमें पाई जाती है। वह समझते हैं, कि हमारा सम्प्रदाय अनादि कालसे चला आया है और बाकी वैरागी, उदासी आदि साधु पंथाई—नवीन पंथोंके अनुयायी—हैं। वह अपनेको वैदिक और दूसरोंको अवैदिक समझते हैं। ऐतिहासिक तौरसे यह धारणा बिल्कुल गलत है। शंकराचार्य आठवीं सदीमें पैदा हुए। उनके परम गुरु गौडपाद स्वयं अपने ग्रन्थ "माण्डूक्यकारिका" में बुद्धकी वन्दना करते हैं। गौडपादसे पहले शंकरकी परम्परा नहीं जाती। उनके पहलेके साधुओंमें सिर्फ जैन और बौद्ध साधु बच रहे हैं। बौद्धोंके ८४ सिद्धोंमें गोरखनाथ भी थे, जो तिब्बती परंपराके अनुसार राजा देवपालके समय (नवीं शताब्दीके आरम्भ में) मौजूद थे। इस तरह प्राचीनतामें तो बौद्धों और

जैनोंके सामने शंकराचार्यका सम्प्रदाय टिक नहीं सकता। रही बात वैदिक होनेकी, सो शंकराचार्यका अद्वैत दर्शन बौद्ध विज्ञानवादकी कच्ची नकल होनेसे उसी तरह सोलहों आना अवैदिक है, जैसे बौद्ध धर्म। दर्शनके रूप-में वैरागियोंका दर्शन अधिक वैदिक है।

हरिदास जिस उमरके थे, उसी उमरमें अखाड़ोंमें हुड़दंगे (रंगरूट) भरती किये जाते हैं। वह जिन साधारण तथा अधिक सौम्य स्वभाववाले साधुओंकी मण्डलीमें अयोध्यासे चित्रकूट और चित्रकूटसे प्रयाग आये थे, उनके ही प्रति उनका कोई आकर्षण नहीं था। क्योंकि उन्होंने तो बाबा गोपालदास से योग-सिद्धियोंकी चर्चा सुनी और उनकी ओर आकृष्ट हुए थे। उन्हें जीवनको येन केन प्रकारेण घूमते हुए बिताना नहीं था। यदि साधुओंका भीतरी रूप पहले ही उन्हें मालूम हो गया होता, तो इसमें शक है वह साधु बन पाये होते। अब तो नकटे पंथमें शामिल हो गये थे, यही कहना चाहिये, पर साथ ही अभी आशा टूटी नहीं थी। समझते थे, यहाँ नहीं तो और किसी जगह सिद्ध-योगी मिल जायेंगे।

त्रिवेणीपर गंगा-जमुनाके संगमके बीचकी भूमि तथा गंगा पार झूसी तक साधुओंके हजारों तम्बू-कनात-झोपड़ी-डेरे पड़े हुए थे। उनके ऊँट-घोड़े-हाथी बँधे हुए थे। इन्हीं डेरोंमेंसे एकमें हरिदास भी अपने साथियोंके साथ जा पहुँचे। १९०६ ई० के कुम्भमें भी पुराने कुम्भोंकी खूनी याद भूली नहीं थी, और उसके लिए सरकारी पुलिस सतर्क थी। लेकिन, उस वक्त कोई नहीं कह सकता था, कि आजसे ४८ वर्ष बाद (१९५४ ई०) के कुम्भमें देशके राजनीतिक नेताओंकी आवभगतके लिए हजारों नर-नारियों, बच्चे-बूढ़ोंको कुचल कर प्राण देना पड़ेगा। १९०६ ई० के कुम्भमें १९५४ ई० से कहीं अधिक साधु थे, कहीं अधिक हाथी-घोड़े थे पर, उस समय ऐसी दुर्घटना नहीं घटी। कुम्भ मेला प्रायः महीने भरका होता है। साधु प्रायः पूरे महीने भर रहते हैं। प्रयागका कुम्भ जाड़ेके बहुत सुहावने मौसिममें होता है, जिस वक्त बीमारियोंके फैलनेका बहुत कम डर रहता है। हरद्वार का कुम्भ अप्रैलकी गर्मियोंमें पड़ कर मानो हैजेको निमन्त्रण देता आता है। हरिदासजी ने सुन रक्खा था, कि कुम्भके वक्त देश भरके

जहाँ साधु जुटते हैं, वहाँ हिमालयकी कन्दराओंसे निकल कर बहुत से योगी भी आ जाते हैं। वह मेलेमें योगियोंको ढूँढने लगे। भेड़के बालोंको मिला कर गजों लम्बी जटा बाँधे देहमें भभूत रमाये धुनीके किनारे बैठे साधुओं तपस्वियोंके पास भी वह गये। जिनके बारेमें कुछ सुना, उनके समीप पहुँचे। कुम्भमें कोई योगी नहीं मिला, लेकिन यह जरूर सुना, कि हिमालयकी कन्दराओंमें योगी जरूर रहते हैं, और असली योगी ऐसी भीड़में नहीं आते, न उनको किसी दिखावेसे काम है। कुम्भ तो देश भरके भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंके साधुओंके एकत्रित होनेका स्थान है। यहाँ देशाटन और तीर्थाटनकी बातें सुननेको मिल सकती हैं। साधु-जीवनकी यह अनमोल बातें हैं, लेकिन हरिदास तो घुमक्कड़ बननेके लिए घरसे नहीं निकले थे। उनका तो एकमात्र ध्यान था, ऐसी सिद्धि हाथ लगे, कि अन्तर्धान हो जायँ। कहा जा सकता है कि कुम्भका मेला हरिदासको बिल्कुल पसन्द नहीं आया। आखिर तरुण थे और पहले-पहल लाखोंके जनसमूहको उन्होंने यहाँ देखा।

अध्याय ३

योगियोंकी खोज (१६०७ ई०)

वर्ष १८

कुम्भके बीत जानेपर अखाड़े रामतके लिए निकले और वैयक्तिक साधु अपने-अपने मठोंकी ओर चले। उस समय अपनेसे पचास वर्ष पहलेके अन्नकी सस्तीको सतयुग बतलाया जाता था और अपने समयको महँगाईका काल। पर आज पचास वर्ष बाद सोचनेपर उस कालको सस्तीका समय कहा जा सकता है। अनाज जिस तरह महँगा होता है, उसीके अनुसार मजूरी भी महँगी हो जाती है। यदि ऐसा होता तो हिसाब करनेसे कोई फर्क नहीं पड़ना चाहिये। पर जान पड़ता है, सस्तीके समय अधिकांश लोगोंकी जीविका अधिक सुभर होती है, तभी तो उस समय अपने घोड़े-हाथी-ऊँट लिये सैकड़ोंकी जमात रामत करने निकलती थी वह एक गाँवसे दूसरे गाँव, एक शहरसे दूसरे शहरमें पहुँचती और लोग दिल खोल कर उसका स्वागत-सत्कार करते। दो-तीन दिन पहले ही अगले पड़ाववाले गाँव या कस्बेमें खबर दे दी जाती, वहाँके लोग खाने-पीनेका सारा इन्तिजाम कर डालते। इसी समय शायद प्रयाग-कुम्भपर जाते वक्त देवरिया जिलेके पैकोलीके पौहारी बाबाकी जमातको इन पंक्तियोंके लेखकने रानीकीसराय (आजमगढ़) में देखा था। रानीकीसराय न शहर है, न कस्बा। उस समय तो वहाँ दूकानोंकी संख्या भी दो दर्जनसे अधिक नहीं थी और सो भी छोटी-छोटी। साधु अच्छी तरह समझते हैं कि जमातसे करामात होती है। पौहारी बाबाकी जमातमें बड़ी-बड़ी अतिसुन्दर गुजराती और जमुनापारी गायें थीं, जिनको देखनेके लिए लोग टूट पड़ते थे। उनके चारे-पानीका प्रबन्ध भी उतनी ही

श्रद्धासे किया जाता, जितना कि जमातके साधुओंका। हाथी-घोड़े-ऊँट ही नहीं, बल्कि कितनी ही बैलगाड़ियाँ भी साथ थीं। बैलगाड़ियोंके चलनेके लिए सड़क चाहिये, शायद इसीलिए वह सरजू पार होकर पौहारी बाबा आजमगढ़ और रानीकीसरायके रास्ते प्रयागकी ओर जा रहे थे। पौहारीजी पालकीपर सवार होकर चलते। रानीकीसरायमें भी उनकी पूजा-पाठ और जमातका दर्शन करके लोग अपना अहोभाग्य समझते थे। भोजनके अतिरिक्त दक्षिणा भी दी जाती। शायद एक रात रह पौहारीजी आगे चले।

हरिदास भी इसी तरहकी किसी जमातमें शामिल होकर घूम सकते थे, लेकिन वह तो योग-सिद्धिके पीछे पड़े हुए थे। उन्हें दो-चार ऐसे साधु मिल गये, जो कुछ पढ़े-लिखे थे, और उन्हींकी तरह योग सीखनेकी कामना रखते थे। यह छोटी मण्डली एक दिन उत्तर-पश्चिमकी दिशाको चल पड़ी। उनका लक्ष्य हिमालय और हरिद्वार था। हिमालयमें बदरीनाथ-केदारनाथकी यात्रा भी आकर्षण रखती थी और उधर सिद्धोंके होनेकी सम्भावना भी बतलाई जाती थी। यात्रा अप्रेलके अन्तमें शुरू होती थी। उसके खुलनेमें अभी दो-ढाई महीनेकी देर थी, इसलिए हरिदास और उनके साथियोंको जल्दी नहीं हो सकती थी। उन्होंने न गाड़ीकी सड़क पकड़ी न रेलकी। गंगामैयाके अंचल पकड़ वह ऊपरकी ओर बढ़े। अभी तक उनकी रामत सिर्फ अवधीभाषी प्रदेशमें हुई थी। कानपुर, अयोध्या और प्रयाग अवधीभाषी हैं। चित्रकूटमें थोड़ा ही भाषाका अन्तर पड़ा था। जहाँ तक साधुओंका सम्बन्ध है, उनकी एक अपनी भाषा (सधुक्कड़ी) होती है, जो खड़ी हिन्दीसे बहुत मिलती-जुलती है, पर उसमें हरेक भाषा-क्षेत्रका अपढ़ साधु अपना व्याकरण इस्तेमाल करनेके लिए स्वतन्त्र है। गंगाके किनारे पहले ही पता लग जाता था कि किस गाँवमें साधुका स्थान है और किस गाँवमें नहीं। स्थान होनेपर वह वहीं ठहरते। दो-चारकी मण्डली रहनेसे अतिथि-सत्कारका बहुत भार नहीं पड़ता। वैसे गाँवके स्थान-धारी साधुको अभ्यागतोंका आना घाटेका सवाल भी नहीं है। यदि उनके पास स्वागत-सत्कारकी सामग्री नहीं हुई तो अभ्यागतोंके नामपर वह दस घरोंसे

खाने-पीनेकी चीजें जुटा सकते हैं। हरेक गाँवका स्थानधारी साधु कमसे कम एक दिनका सत्कार करना अपना कर्तव्य समझता।

यद्यपि हरिदासके लिए हरेक गाँव और वहाँका हरेक मठ या आदमी नया होता, पर अपरिचित स्थानके प्रति जो अनिश्चितता या आशंकाकी बात हृदयमें उठती है, वह पहले ही कुछ दिनों तक रह कर शान्त हो गई। यदि कोई उत्सुकता पाई जाती तो स्थानकी नवीनता थी। परिचित स्थानका अभाव खटकनेकी बात नहीं थी। "कहीं घनीघना, कहीं मुट्ठी भर चना" जैसी लोकोक्तियाँ हृदयको प्रसन्न रखनेके लिए काफी थीं।

हरेक तरुण जन्मजात घुमक्कड़ होता है। उसके मनमें घूमकर नये-नये देशों, नये-नये लोगोंके देखनेकी आकांक्षा होती है। किसीमें यह आकांक्षा क्षणिक होती है, इसलिए उसे घुमक्कड़ीका आनन्द भी क्षणिक ही मिलता है। हरिदास अभी नहीं बतला सकते थे, कि वह जन्मजात घुमक्कड़ हैं या नहीं। उन्होंने अपने सामने एक लक्ष्य रक्खा था—योग-साधना—जिसके कारण घुमक्कड़ी उनके जीवनका एकान्त लक्ष्य नहीं हो सकती थी। यदि ऐसा होता, तो उन्हें और भी आनन्द आता। फिर मंजिल नहीं, बल्कि रास्ता ही उनके लिए सबसे प्रिय वस्तु हो जाता। जौकी रोटी, सरसोंके सागमें जितना स्वाद उस समय उन्हें मालूम होता था, उतना किसी अतिस्वादिष्ट पकवानमें भी नहीं मालूम हुआ होगा। लेकिन, सिर्फ जौकी रोटीपर ही उन्हें गुजारा नहीं करना पड़ता था। कहीं पूड़ियाँ मिलतीं, कहीं खीर-मालपूये भी। कभी गाँवोंकी कच्ची कुटियाकी मिट्टीके फर्शपर सोते, तो कभी शहरोंके पक्के मठोंका पक्का फर्श उनकी पीठके नीचे होता। हर मठ-मन्दिरमें हरिदास जैसे शिक्षित तरुण साधुके सामने रहनेका आग्रह आता। बड़े मठोंके पास अपनी जमींदारियाँ होतीं, जिनके प्रबन्धके लिए शिक्षित साधुकी आवश्यकता थी। लेकिन वह अपने संकल्पपर दृढ़ थे।

कहींपर उन्होंने गंगाकी धारा छोड़ दी थी, तभी तो रामनवमीको मुरादाबाद पहुँचे। वहाँकी भाषा बतला रही थी, कि वह नये देशमें आ गये हैं। हरेकको अपना जन्मग्राम या शहर अपना देश मालूम होता

है। फिर उसकी सीमा अपनी भाषाके विस्तार तक जान पड़ती है। जहाँ भाषा बदली, तहाँ देश पराया मालूम होने लगता है। मुरादाबादमें अवधी नहीं थी। शहरमें प्रायः शुद्ध खड़ी बोली बोली जाती थी, जो साधुओंकी भाषाके नजदीक थी। वेष, भाषा और आचार-विचारमें साधु एक-से होते हैं। वह नवागत साधुओंके साथ स्नेह रखते हैं। यदि आर्थिक भार बाधक न हो, तो उनका मधुर सम्बन्ध बहुत दिनों तक निभ सकता है। घर छोड़े अब एक साल हो गया था।

हरद्वार—मुरादाबादसे रामन करते वह हरद्वार पहुँचे। वहाँ काफी गर्मी पड़ रही थी। लेकिन, उस गर्मीका प्रभाव बिल्कुल खतम हो जाता था, जब हरद्वारके गंगाके शीतल जलका स्पर्श आदमी करता। कानपुरमें भी उन्होंने गंगाको देखा था, घंटों उसमें तैरते-नहाते थे। उन्हें आश्चर्य होता था, गंगाका ऐसा यह शुद्ध शीतल जल कानपुरमें क्यों नहीं मिलता? सोचते थे, गंगाका दिव्य प्रभाव पहाड़से हट कर कम हो जाता है। लू चलते समय भी गंगाके किनारे बैठनेपर सन्ताप पास नहीं फटकता था, लेकिन तटसे चार ही कदम हटनेपर धूपसे मत्था भन्नाने लगता, एड़ीका पसीना चोटी पहुँचता। उस समय शीतल जलकी आकांक्षा होती, लेकिन गंगाकी धारमें घुसते ही माघ-पूसकी सर्दी मालूम होने लगती। जल्दी-जल्दी धारासे बाहर निकलनेकी पड़ जाती। हरिदासको गंगासे प्रेम था। पण्डा न होनेपर भी वह गंगापुत्र थे, गंगाके किनारे ही पैदा हुए थे। अपनी गंगाकी महिमा जब लोगोंसे सुनते, तो फूले न समाते। हरद्वार, या हरिद्वार यह पीछेका गढ़ा हुआ नाम है। पहले इसे गंगाद्वार कहा जाता था, क्योंकि गंगाके पहाड़ोंसे बाहर निकलने का यही द्वार था। सप्तपुरियोंमें हरद्वारकी नहीं, मायाकी गिनती है, जो कनखलको लिये हुए थी। अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, कांची, अवन्तिका (उज्जैन), द्वारावती (द्वारिका) पुरियोंकी यह सात संख्या बहुत पुराने समयमें पूरी हो गई थी। लेकिन, मायासे भी पुराना तीर्थ कनखल है। कालिदासने "मेघदूत" में माया नहीं कनखलका स्मरण

किया है। इस तरह नाम-परिवर्तन और स्थान-परिवर्तन करना कालके लिए कोई असम्भव बात नहीं है।

हरद्वारमें वह निहालचन्दकी बगीचीमें ठहरे। उनके साथियोंको बदरी-नाथ जाना था। वह उधर चले गये। अप्रेलका महीना था। गर्मी तो थी, पर उनको यह क्या पता था, कि इन पहाड़ोंके ऊपरके स्थानों पर कुछ ही दिनोंमें जब पहुँच जायेंगे, तो गर्मीका नाम-निशान नहीं रह जायगा। उनके अन्तिम जीवनमें मसूरी गर्मियोंके बितानेका निश्चित स्थान बन गई थी, और वह हरद्वारसे बहुत दूर नहीं थी। लेकिन उस समय तो वह भी उनके लिए अज्ञात जगत्की नगरी थी। अब वह योगी-महात्माओंको ढूँढ़नेमें लगे। वैरागियोंमें साल भर रह कर उन्हें निराशाका ही सामना करना पड़ा था। वहाँ ज्ञान और योगको ढूँढ़ना उन्हें असम्भव मालूम होता था, इसलिए अब वह संन्यासी, उदासी जिस किसीके बारेमें भी सुनते, वहाँ पहुँचते। उनकी बातें सुनते, योगियोंका पता पूछते। सभीने योगियोंके बारेमें कानसे सुन रक्खा था। कोई दर्शन किये होता, तब न बतलाता ? यहाँ हरिद्वारमें उन्हें पेशावरके साधु वैष्णवदास एकाएक मिल गये। धीरे-धीरे उनसे घनिष्ठता बढ़ी, और जो जलियाँवालाबागमें (अमृतसर) में उनके शहीद होनेके साथ ही टूटी। दोनोंमें स्नेह था, पर दोनोंका एक लक्ष्य नहीं था। वैष्णवदास योगके जिज्ञासु नहीं थे। वह आयुमें बड़े और देशाटन करनेके कारण हरिदाससे अधिक अनुभव रखते थे।

ऋषिकेश—वैष्णवदासके साथ हरिदास ऋषिकेश गये। ऋषिकेश उस समय न कोई शहर या कस्बा था और न कोई बड़ी बस्ती ही। एक दर्जन छोटी-छोटी दूकानें थीं। बाबा कालीकमलीवालेका क्षेत्र जरूर था, लेकिन वह भी अभी छोटे ही रूपमें था। सिन्धपंजाब-क्षेत्रका तो अभी आरम्भ ही हुआ था। आसपास जंगल और खाली जमीन पड़ी हुई थी, घेरा बाँध लो और जमीन तुम्हारी। इसी कारण तो आधे ऋषिकेशकी जमीन आज इन दोनों क्षेत्रोंकी है। उस समय हरिदास या उनसे तीन वर्ष बाद वहाँ पहुँचे इन पंक्तियोंके लेखकको भी इसका क्या

ख्याल हो सकता था, कि जहाँ कभी दो-चार टूटी मड़ैयाँ खड़ी थीं, वहाँ भूपोंके महल खड़े हो जायेंगे। ऋषिकेश साधुओंका नगर बन जायगा, रातको बिजलीके दीपक जगमग-जगमग करने लगेंगे, वहाँकी हाटोंके सामने हरद्वार भी फीका पड़ जायगा। यदि ऋषिकेशकी आधी भूमि और उसकी आधी दूकानोंके मालिक यह उपरोक्त दोनों क्षेत्र हैं, तो यह समाजके लिए घाटेका सौदा नहीं है, क्योंकि ये संस्थाएँ वैयक्तिक लाभके लिए नहीं, बल्कि सामाजिक हितके लिए काम करती हैं। यात्रियोंको उनसे यहाँ और उत्तराखण्डकी यात्रामें बड़ी सहायता मिलती है। ऋषिकेशको अधिक संस्कृत जाननेवाले हृषिकेश कहते हैं, हृषिकेश कृष्णका नाम है, किन्तु इससे इसके इतिहासपर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। ऋषिकेशमें गुप्तकालकी भी खण्डित मूर्तियाँ मिली हैं, लेकिन उस समय उसका यह नाम नहीं था। जिस समयकी बात हम कह रहे हैं, उस समय अयोध्या ही एकमात्र साधुओंका नगर था। अब एकमात्र न कहनेपर भी ऋषिकेश हजारों साधुओंका नगर है। दोनों मित्र भरतजीके मन्दिरमें जाकर ठहरे। साधुओंकी संख्या बहुत अधिक नहीं थी, कि योगियोंका पता लगानेमें बहुत देर लगती। इन पंक्तियोंका लेखक भी उस आयुमें योग और सिद्धिसे प्रभावित हुआ था। हृदयके अन्तर छिपा घुमक्कड़ीका बीज भी जोर मार रहा था, पर हरद्वार वह संस्कृत पढ़नेके ख्यालसे आया था—घरकी गंगा (काशी) को इस लिए छोड़ आया था, कि वहाँ रहनेपर घरवाले विघ्न डालनेके लिए तैयार थे। हरद्वार और ऋषिकेश दोनोंमें संस्कृत अध्ययनसे निराश होकर उत्तराखण्डकी यात्राका निश्चय जिस तहर उसने किया, उसी तरह हरिदासने भी वैष्णवदासके साथ परामर्श करके यही तै किया, कि चलो जमुनोत्री, गंगोत्री, केदार-बदरीके दर्शन ही कर आयें। वैष्णवदास पहले हो आये थे, लेकिन हरिदासके कहनेपर "अधिकस्याधिकं फलं" सोच तैयार हो गये।

जमुनोत्री—ऐसा निश्चय करनेमें एक कारण यह भी था, कि हरिदासको हिमालयके गहन वनों और कन्दराओंमें योगियोंके होनेकी

सम्भावना थी। वह ऋषिकेशसे लक्ष्मणझूला पहुँचे। एक सप्ताह वहीं ठहर गये। तपोवन, कजलीवनमें रहनेवाले साधुओंके पास जाते रहे, पर कोई योगाभ्यासी नहीं मिला। अब चारों पैर आगेकी ओर चले। हरिदासको पहाड़में चलनेका यह पहला अवसर था, वैसे चित्रकूटके पहाड़ वह देख चुके थे, जो हिमालयके सामने पहड़ुल्ली होने लायक भी नहीं था। अज्ञात और घने जंगलोंमें भालू तथा दूसरे खतरनाक जानवरों की बात सुनकर उनका मन भी कुछ घबरा रहा था। यात्राके समयमें उत्तराखण्डके चारों तीर्थोंकी ओर जानेवाली सड़कोंपर सहयात्री मिल सकते थे, लेकिन उस समय अभी न यात्रियोंकी इतनी अधिक संख्या थी, न इतनी अधिक चट्टियाँ थीं। धर्मशालाएँ तो और भी कम थीं। इसी-लिये उन्होंने वैष्णवदासको आग्रहपूर्वक चलनेके लिए तैयार किया था। कालीकमलीवालेकी धर्मशालाएँ और सदावर्तके क्षेत्र जगह-जगहपर बने हुए थे, प्रायः दस-पन्द्रह मीलकी यात्रा करनेपर वह जरूर आ जाते थे। वहाँ जानेपर ठहरनेका ही आराम नहीं रहता, बल्कि आटा-दाल-चावल, नून-तेल-लकड़ी भी मुफ्त मिल जाती। दोनों साथियोंने इस सुभीतेसे लाभ नहीं उठाया। उन्हें सदावर्तकी चिट्ठीके लिए लौट कर ऋषिकेश आना पड़ता। आसानीसे एक ही आदमी दो बार सदावर्त न ले ले, इसके लिये कालीकमलीवाले एक टिकान पहले अगली सदावर्तकी चिट्ठी देते। चिट्ठी लेकर सदावर्तकी चीजें देते हुए उसे अगली सदावर्तकी भी चिट्ठी मिल जाती। पहाड़को चढ़-उतर बीस-तीस मील आवाजाही करके कौन दुबारा सदावर्त लेनेके लिये चिट्ठी लाने जाता। इसलिये भी चिट्ठी लेनेकी जरूरत नहीं थी, क्योंकि वैष्णवदास सड़कके रास्ते नहीं, बल्कि गाँवोंके रास्ते मनमाना जाना जाहते थे। वस्तुतः उनमें घुमक्कड़ीकी तीव्र भावना थी। हरिदासको लिये वैष्णवदास गाँवोंकी पगडंडियोंसे चले। उस समय अन्न इतना दुर्लभ नहीं था, न इतनी महँगाई थी, इसलिए चार-दस घरोंमें फेरा लगानेपर दोनों मूर्तियोंके लिए खाने भरको चून मिल जाता। वह देव प्रयाग पहुँचे। यहाँसे एक रास्ता अलखनन्दाके बाँये किनारेसे ऊपर जा आगे केदार-बदरीके दो रास्तोंमें बँट जाता और दूसरा

भागीरथीके बाँयेसे ऊपर को जा रहा था, जो आगे चलकर जमुनोत्री और गंगोत्रीके रास्तोंमें विभक्त हो जाता। दोनोंने चारों तीर्थोंमें जानेका निश्चय कर लिया। जब निकले, तब सभी तीर्थोंको पूरा करके लौटें। देवप्रयागसे वह टेहरी की तरफ चले। यहीं पहलेपहल कड़ी चढ़ाई की बानगी उन्हें मिली। उस समय छठीका दूध याद आ गया। पहाड़ी चढ़ाई करनेमें नौसिखिये थे। जाने-सुने आदमीको भी कुछ दिनों चढ़ाईमें अभ्यस्त होनेकी जरूरत पड़ती है, तब जाकर वह सुगम मालूम होती है। चढ़ाई समाप्त कर फिर उतराई आई। और भी चढ़ाइयाँ आईं, लेकिन वह पहले जैसी कठिन नहीं थीं। चौथे दिन दोनों मित्र टेहरी पहुँचे।

शायद उन्हें किसीने बतलाया नहीं था, कि तीर्थयात्रा तब तक सुफल नहीं होती, जब तक वहाँके राजाका दर्शन न कर लिया जाये। टेहरी-राजा उस राजवंशके थे, जिसके हाथमें जमुनोत्री-गंगोत्री, केदार-बदरी चारों महातीर्थ थे। उस समय राजधानी श्रीनगर थी। सारे राज्यको गोरखोंने लेकर राजाको भगा दिया था। अंग्रेजोंने गोरखोंको हराया, जिसमें गढ़वालके राजाने पूरी सहायता की, लेकिन विजयके बाद सबसे अधिक आबाद आधे इलाकेको अंग्रेजोंने अपने राज्यमें मिला लिया, जिसमें राजधानी श्रीनगर भी थी, और बाकीके जंगल-पहाड़ोंको गढवालके राजवंशके उत्तराधिकारीको दे दिया। उसने आकर टेहरीको अपनी राजधानी बनाया। राज्यसे वंचित होनेपर भी उत्तराखण्डके चारों धामोंके राजा टेहरीवाला ही माने जाते थे। टेहरीमें राजाकी बनवाई धर्मशाला थी, जहाँ आटा-दाल-गुड़-नमक-हल्दी-मिर्चकी सदावर्त लगी हुई थी। पर, [illegible] दक्षता के कारण दोनोंको सदावर्तका आश्रय लेनेकी जरूरत नहीं थी। वहाँ भागीरथीके किनारे उन्होंने एक-दो दिन विश्राम किया, फिर वह भागीरथीके दाहिने किनारेसे ऊपरकी ओर बढ़े। दो या तीन दिनमें धरासू आ गया।

अब हरिदासके पैर पहाड़ी यात्रामें अभ्यस्त हो गये। थोड़ी-बहुत चढ़ाई तो हर जगह ही आ जाती थी, लेकिन अब चढ़नेमें साँस नहीं फूलती थी, न पैर उठनेसे इन्कार करते थे। यदि वह चाहते, तो सबेरे

चलकर दोपहरको किसी जगह विश्राम कर उसी दिन शामको धरासू पहुँच जाते, लेकिन उनको कोई जल्दी नहीं थी। जब मौज आई तो चले और जब मौज आई तो बैठ गये। गाँवमें उन्हें दाल और आटा ही नहीं, दूध भी मिल जाता था। आधी शताब्दी पहले जो खाने-पीनेका सुभीता घुमक्कड़ोंको था, अब वह नहीं है, क्योंकि सभी चीजें महँगी हैं। पर, घुमक्कड़ी किसी देश-कालसे सीमित नहीं है, वह हर समय अपने लिए रास्ता निकाल लेती है।

धरासूमें जमुनोत्री और गंगोत्रीके रास्ते अलग-अलग होते थे। जमुनोत्रीके रास्तेकी कठिनाइयाँ वह बहुत सुन चुके थे। आज तो धरासू ऋषिकेशसे सीधी मोटर जाती है। और शायद इन पंक्तियोंके छप कर निकलते समय तक आगे उत्तरकाशी तक भी मोटर आने जाने लगे, अब भी जीपके जानेमें दिक्कत नहीं है। जमुनोत्रीके रास्तेपर कब मोटर चलेगी, अभी इसका पता नहीं। रास्तेकी कठिनाइयों को समझ कर कितने लोग जमुनोत्रीको छोड़ कर गंगोत्रीका रास्ता पकड़ लेते हैं। हरिदास और वैष्णवदास रास्तेकी कठिनाइयोंसे घबरानेवाले नहीं थे। धरासूमें जमुनोत्री जानेवाले कुछ और साधु मिल गये, जो विकट मार्ग का स्वागत करनेके लिए तैयार थे। गंगाके जलक्षेत्रसे अब उन्हें जमुनाके जलक्षेत्रकी ओर जाना था। ऐसे दो जलक्षेत्रोंकी विभाजक रेखा किसी पहाड़की पीठ पर होती है, इसलिये उस ऊँचे स्थानपर पहुँचनेके लिये काफी चढ़ाई चढ़ना आवश्यक होता है। वह आगे बढ़े। रातको डांडेके पासवाले किसी गाँवमें ठहरे। सबेरे सात मूर्तियोंका काफिला ब्रह्ममुहूर्तमें ही उठ कर चल पड़ा। आधे मील चलनेपर चढ़ाई आरम्भ हुई। अभी भुवन-भास्करकी अरुण किरणें हिमालयके गगनचुम्बी हिमशिखरोंपर प्रतिबिम्बित नहीं हुई थीं। पर, आसपासके घने जंगलोंको देखा जा सकता था। सात-आठ फुट चौड़े नालेके किनारे-किनारे रास्ता ऊपर चढ़ता जा रहा था। नालेमें पानी कम था, किन्तु धार इतनी तीव्र थी कि कोई उसमें लाँघनेकी हिम्मत नहीं कर सकता था। साधुओंने नालेके किनारे अपना डण्ड-कमण्डल रक्खा, और चिलम तैयार करनेके लिए आग जलाई। कंकड़का दम लगा डोल-

डालके लिए गये। एक साधु नालेके मोड़से घूम कर आड़में जाकर शौच-के लिए बैठा। उसकी नजर जंगलकी ओर नालेके पार जो गई, तो देखा कि एक भालू जमीनमें पंजोंसे खोद कर जड़ निकाल रहा है। साधुने समझा नजदीक है, पर नालेके पार है, वह मेरा क्या बिगाड़ सकता है। चुपचाप चला आता तो कोई बात न होती, लेकिन उसने भालूकी ओर एक पत्थर फेंका। उसने साधुको देख लिया। फिर क्या था, जमीन खोदना छोड़ कर वह साधुकी ओर लपका। साधुने उसे भगानेके लिए पत्थर मारा। इतनेमें भालू नालेके किनारे पहुँच पानीमें उतरने लगा। अब साधुके पैर उखड़ गये। वह "रीछ, रीछ" चिल्लाता अपने साधुओं-की ओर भागा और डण्ड-कमण्डल उठा वह चढ़ाईकी ओर दौड़ा। दूसरे साधुओं और हरिदासने भी देखा, कि रीछ पानी पार होनेकी कोशिश कर रहा है। वह पहाड़ी तो थे नहीं। जंतुओंके स्वभावसे अभ्यस्त होते कि सभी डर गये, अपना-अपना डण्ड-कमण्डल उठा चढ़ाईकी ओर भाग चले। रीछने नदीको नहीं पार किया, बल्कि परले किनारे-किनारे वह उनका पीछा करने लगा। चढ़ाईपर वैसे होता, तो चार कदममें ही दम फूलने लगता, कलेजा गलेमें अटकता, लेकिन इस वक्त तो सातों मूर्तियों-को मालूम हो रहा था, यमराज सीधे हाथ बढ़ाये चले आ रहे हैं। सबमें अनेक हाथियोंका बल आ रहा था, हाँफते-हाँफते भी वह ऊपरकी ओर दौड़ते ही जा रहे थे। सारा शरीर पसीने-पसीने हो गया था, पर वह पैरोंको कुछ उजुर करने की छुट्टी भी देनेके लिए तैयार नहीं थे। सौभाग्यसे कुछ दूर आगे नदी घूम गई, रास्ता नदीसे हटकर चला, इस प्रकार नदी और रीछ दोनों आँखोंसे ओझल हो गये। कुछ दूर तक तब भी वह बीच-बीचमें पीछेकी ओर देखते भागते रहे। अब उन्हें इत्मीनान हो गया, कि भालू यहाँ नहीं आ सकता। सूर्यकी किरणें भी अब चारों ओर फैल गई थीं और मीलों तक अपने आस-पासकी चीजोंको देख सकते थे। तब भी वह तब तक पूरी तौरसे निश्चिन्त नहीं हो पाये, जब तक कि कुछ गाँववाले दिखाई नहीं पड़े। "हनुमान चालीसा" प्रायः सभीको याद था, सभी विश्वास रखते थे, "भूत-पिशाच निकट नहिं आवै। महावीर जब नाम

सुनावै।" लेकिन, उस समय किसीको न "हनुमान चालीसा" याद रहा, और न महावीरजीका नाम। वह केवल अपने पैरोंपर भरोसा कर सकते थे। डडालगाँव, गंगाणी होते हुए वह अब जमुनाके किनारे पहुँच गये। गंगाकी धाराको धरासू और ऋषिकेश-हरद्वारमें उन्होंने सफेद देखा था। और जमुना यहाँ पहाड़में भी नीली श्यामला थी। जमुनाका कृष्ण जैसा रंग देखकर मनमें विचार होता था, क्या कृष्णके सम्पर्कसे ही तो जमुनाका यह रंग नहीं हुआ? दृश्य नयनाभिराम था। समतल-सी उपत्यकामें किन्तु पत्थरोंके बीचमें पड़े पत्थरोंमेंसे होकर जमुना बह रही थी। उसके दोनों तरफके पहाड़ उत्तुंग हरे-हरे वृक्षोंसे ढँके थे, जिसमें इस समय तरह-तरहके पक्षियोंके मधुर कलरव सुनाई देते थे।

बीच-बीचमें जहाँ-तहाँ ठहरते जमुनाके बायें किनारे कितनी ही छोटी-छोटी नदियों और झरनोंको देखते, उनके शीतल जलसे तृप्त हो वह पण्डोंके गाँव खरसालीमें पहुँच गये। मैदानी देश होता तो हर जगह किसी वैरागी की कुटिया या मठ मिल जाता, सदावर्त ढूँढ़नेकी जरूरत न पड़ती। यहाँ सदावर्त नहीं होनेपर भी साधुओंको भोजन मिलनेमें दिक्कत नहीं हुई। इतनी दूर आ जानेपर हरिदासने देखा, कि हिमालयके इन बीहड़ जंगलोंमें भी योगीका कोई पता नहीं। पर, उन्हें निराशा नहीं हुई। अब उन्हें यात्रामें रस आने लगा था। देवप्रयागकी पहली चढ़ाईकी कड़वाहट वह बिल्कुल भूल गये थे।

उन्होंने बदरीनाथके पण्डोंको देवप्रयागमें देखा था। वह बहुत संस्कृत और खाते-पीते थे। हरिदासने समझा था, उत्तराखंडके सभी पण्डे ऐसे ही होंगे। पर, खरसालीमें जमुनोत्रीके पण्डे दूसरी तरहके ही दिखाई पड़े। उनमें शिक्षाका नाम नहीं था, इनकी वेष-भूषा भी बहुत मैली तथा ऊनी कम्बलकी थी। तरुण-तरुणियाँ सभी अधिक गोरे और सुन्दर थे, पर मैलने सौन्दर्यको ढाँप दिया था। और यात्रियोंकी तरह हरिदासको भी ख्याल हो सकता था, कि क्यों यह इतना गन्दा रहते हैं। शायद यह भी सोच सकते थे कि ठण्डा मुल्क होनेके कारण गन्दा रहनेका इनका स्वभाव है। उनको क्या पता था कि शिक्षा और पैसा चाहिये, फिर

ठण्डेसे ठण्डे मुल्कमें भी इतनी सफाई रक्खी जा सकती है, जो हमारे बड़ेसे बड़े नगरके उच्चसे उच्च पुरुष-स्त्रीमें भी नहीं मिलती। हरिदासको यह देखकर भी आश्चर्य मालूम हुआ कि यह ब्राह्मण-पुरोहित रात होते ही ढोल बजा रहे हैं और उनकी स्त्रियाँ भी नाचमें खुल कर सम्मिलित हो रही हैं। यह समझना बहुतोंके लिए बहुत दूरकी बात है, कि तीन हजार वर्ष पहले हमारे वैदिक पूर्वज जब सप्तसिन्धु (पंजाब) में रहते थे, तो उनका समाज भी खरसालीके पण्डोंकी तरह ही मुक्त था। इसी तरह रातको उनका अखाड़ा जमता, बाजे बजते और आर्य नर-नारी ताल और सुरपर नाचने लगते।

खरसालीसे जमुनोत्री चार ही मील है, पर वह इससे अधिक ऊँची जगह पर है, जिसके कारण वहाँ सर्दी और बर्फ अधिक पड़ती है। लोगोंने अपेक्षाकृत कम ठण्डा समझ कर यहाँ बारहों महीना रहनेके लिये घर बनाये। कुछ दूर जानेपर उन्हें जमुना पार करना पड़ा। फिर उसके दाहिने से ऊपरकी ओर चले। चढ़ाई थी, लेकिन अब वह उससे अभ्यस्त हो गये थे। अन्तमें एक पहाड़की दीवार खड़ी मालूम हुई, जहाँ जमुना एक-से अधिक धारामें आसमानसे सीधे नीचे जमीनपर अट्टहास करती गिर रही थी। जमुनाके इस अद्भुत अवतरणकी ओर हरिदासका ध्याना नहीं खिचा, जितना कि पासके छोंटे से तप्तकुण्डकी ओर, जिसमें वह पकानेके लिये पोटलीमें चावल बाँधकर डालनेवाले थे। चावल ही नहीं, आलू या किसी भी चीजको पोटलीमें बाँध कर उसमें डालनेसे पक जाता, पानी इतना गरम था। इसे वह जमुनामैयाकी महिमा मानते थे। जमीनके अन्दर गन्धककी आग है, जिसके कारण यह पानी गरम होकर ऊपर आ रहा है, इसका उन्हें क्या पता था। ऐसे गरम चश्मे यहाँ या कुल्लूके मणिकर्णमें ही नहीं, बल्कि दुनियाके और भागोंमें भी मिलते हैं। जिनका पानी कुछ सह्य होता है, उनमें लोग स्नान भी करते हैं। यहाँपर गरम पानीकी धारको ठण्ठे पानीकी धारसे मिला कर नहानेके लिए सह्य गर्मी-वाला एक कुण्ड बना लिया गया है, जिसमें हरिदास अपने साथियोंके साथ बैठ कर नहाये।

हरिदासको जमुनोत्रीमें मालूम हो रहा था, हम माघ-पूसके जाड़ेमें हैं, जब कि नीचे इस वक्त आसमानसे आग बरसती होगी। उनके पास ओढ़ना-बिछौना बहुत ज्यादा नहीं था, क्योंकि उससे अपने ही शरीरपर बोझा अधिक बढ़ता। अँगोछेके दोनों सिरोंके भीतर एकाध चीजों सहित कंबलको बाँध कर कन्धेसे लटका दूसरे कन्धेमें झोली डाल, एक हाथमें कमण्डल और दूसरे हाथमें चिमटा लिये चलनेके साधु अभ्यासी होते हैं। किसीको अधिक भक्ति हुई, तो उसने ठाकुरजीको भी झोलीमें रखकर गलेमें लटका लिया। जिसे कुछ अक्षरसे भेंट है, वह तुलसीकी रामायणकी पोथी भी लटका लेता। साधुओंकी सूरत फले कटहलके वृक्ष सी बतलाई जाती है। उनके कन्धे, गले और हाथोंमें लटकी ये चीजें सचमुच ही उन्हें कटहल-वृक्ष बना देती हैं। हरिदास और उनके साथी कमसे कम दण्ड-कमण्डलके पक्षपाती थे। वह यहाँ अपनी बेवकूफीपर पछता रहे थे। सचमुच ही यदि यहाँ जंगलकी सूखी लकड़ी इफरातसे न मिलती, तो रात बिताना मुश्किल हो जाता। वह दो पहर से पहले ही जमुनोत्री पहुँच गये थे। आकाश नीरव था, मध्याह्नमें सर्दी अधिक कड़ी नहीं थी, पर जैसे-जैसे सूर्य पश्चिमकी ओर ढल रहे थे, वैसे ही ठण्डक बढ़ती जा रही थी। रातका उन्हें पता नहीं था, नहीं तो वह उसी शाम खरसाली लौट आते। लेकिन, वैदिक ऋषियोंने कह दिया है—"अग्निर्हिमस्य भेषजं" अग्नि सचमुच ही उनके लिये सर्दीकी भेषज सिद्ध हुई। उन्होंने बड़े-बड़े लक्कड़ लगा दिये और उसीकी आँचमें बैठ कर रात काट ली।

हिमालयके सभी कड़वे-मीठे अनुभव उन्हें हो चुके थे, इसलिये हिम्मत भी बढ़ गई थी। वह वही पुराना रास्ता पकड़े खरसाली लौटे। जमुनोत्री (१०,००० फुट) से सिमली तक २५ मीलसे कुछ ऊपर देखे हुए रास्तेसे वह लौटे। यहाँसे फिर धरासू लौट कर गंगोत्रीके रास्तेको वही पकड़ना चाहते हैं, जो अधिक चढ़ाईसे डरते हैं, नहीं तो १७ मील पर ही उत्तरकाशी पहुँच सकते हैं। छः महीनेके रास्तेसे बारह महीनेका रास्ता भयंकर नहीं होता है, पर तरुण रक्त हो और घुमक्कड़ीकी आकांक्षा, तो वह क्यों साल भरके रास्तेको पकड़कर नामहँसाई करायेगा। हरिदास और

उनके साथियोंने नजदीकका रास्ता पकड़ा। रास्तेको उनमेंसे किसीने नहीं देखा था। "अंधेनैव नीयमाना यथांधाः" वाली बात थी। रास्ता पगडण्डी का टेढा-मेढा तथा जंगल का था। चढ़ाई भी काफी थी। डाँडेको जहाँ पार करना था, उसके दोनों तरफ कोसों तक गाँव नहीं थे। आखिर डाँडेपर हर साल कई महीने तक बर्फ पड़ी रहती थी। कोई भी पहाड़ी गाँव कमसे कम दिनों तक ही बर्फका सामना करनेकी हिम्मत रखता है, क्योंकि उस समय पशुओंके चारेके लिए भारी दिक्कत हो जाती है। जमुनोत्रीका एक और प्रसाद हरेक यात्रीको मिलता है। वहाँ पीली-पीली पतली मक्खियाँ पैर खुला रहनेपर चलते-चलते भी काट देती हैं। खुजली होने लगती है, खुजलाने पर घाव हो जाते हैं। इस प्रसादको लिये दस-बारह दिन तक आदमी कष्ट उठानेके लिये मजबूर होता है। यदि मोजेसे पैरोंको ढाँक लिया जाये, तो उससे त्राण मिल सकता है, पर ऐसी साव-धानी बहुत कम ही लोग बरतते हैं।

उत्तरकाशी—डाँडेको पार कर कितने ही घंटों बाद वह एक छोटे से गाँवमें शामके वक्त पहुँचे, जिसमें कुल चार-पाँच घर थे। खाने की बात तो दूर, वहाँ रहने के लिए भी स्थान नहीं था। एक टूटी-फूटी गौशालामें उन्होंने अपना आसन रक्खा। भूखे तो थे ही, लेकिन वहाँके पिस्सू उनसे भी अधिक भूखे थे। जब उन्होंने धावा बोल दिया, तो रात भला सोकर कैसे काटी जा सकती थी। उस दिनकी चढ़ाई उन्हें उतनी दुःखद नहीं मालूम हुई थी, जितना कि पिस्सुओंका प्रहार। हरिदास पिस्सुओंके अभ्यस्त नहीं थे, इसलिए उस दिनकी मुसीबत जीवन भरके लिए उनके मनसे भूलनेवाली नहीं थी। यदि उन्हें ऐसा मालूम होता, तो उसी दिन थोड़ा और हिम्मत करके बाराहाट पहुँच गये होते। यदि बारह महीनेके रास्ते जाते, तो उन्हें यहाँ पहुँचनेमें कई दिन लगते। हाँ, बाराहाट यही असली नाम है, उत्तर काशी पण्डोंने अपने मतलबसे बना दिया है। काशियोंके नामपर तीर्थयात्री अधिक चढ़ावा चढ़ायेंगे, इसी ख्यालसे उन्होंने बाराहाटका उत्तरकाशी नाम रख दिया। लेकिन, इसका यह अर्थ नहीं है, कि इस नकलके कारण बाराहाटका महत्त्व कम हो जाता है।

लालबुझक्कड़ लोग बाराहाटका अर्थ बारह बाजार लगाते हैं। गंगाके दाहिने किनारे यहाँ इतनी समतल भूमि है, कि जहाँ किसी नगरके बारह बाजार बसाये जा सकते हैं। पर हाट, पहाड़में बाजारको नहीं, बल्कि राजधानियोंको कहते थे। कुमाऊँमें गंगोलीहाट, द्वाराहाट ऐसे ही हैं। गढ़वालमें भी गुलाबकोटीके पास हाट और यह बाराहाट किसी समय छोटे-बड़े राजाओंकी राजधानी थे, इसलिये यह नाम पड़ा। राजधानीका सम्भवतः बाराहाट नहीं, बल्कि कोई दूसरा ही नाम था। छठीं शताब्दीके अभिलेखके साथ विश्वनाथ मन्दिरके सामने जो अष्टधातुका विशाल त्रिशूल (शक्ति) गड़ा हुआ है, वह बतलाता है, कि उस समय भी बाराहाट कोई महत्वपूर्ण स्थान था। वहाँ शंकरका कोई भव्य मन्दिर था, जिसके स्थानपर विश्वनाथका मन्दिर बना दिया गया। गणेश्वर राजाने मन्दिरके साथ इस शक्तिकी स्थापना की थी। त्रिशूलकी ऊपरी मोटाई १ फुट १५ इंच और नीचे ८ फुट ९ इंच है। लम्बाई २६ फुट है। शक्ति नीचे पीतलकी और ऊपर लोहेकी है। पुराने मन्दिरका जीर्णोद्धार टेहरीके राजा सुदर्शन शाहने संवत् १९१४ (सन् १८५७ ई०) में किया था। गणेश्वर के पाँच शताब्दी बाद (११ वीं शताब्दीमें) भी बाराहाट एक प्रसिद्ध स्थान, उस पश्चिमी तिब्बतके भोट-राजा देवभट्टारक नागराजके अधीन था, जिसने यहाँ एक भव्य सुगतालय बनाकर वहाँ पीतलकी सुन्दर बुद्ध-मूर्ति स्थापित की थी। मन्दिरका अब पता नहीं, लेकिन मूर्ति अब भी दत्तात्रयके नामसे पूजी जाती है, जिसके ऊपरका लेख मूर्तिके निर्माणकर्त्ताका परिचय देता है।

बाबा हरिदासको अभी इन बातोंकी कोई जिज्ञासा नहीं थी। वह तो योग और सिद्धिके पीछे पड़े हुए थे। यह भी जानते थे, कि वह सुखसाध्य नहीं है, इसलिए हर तरहके कष्टको सहनेके लिए तैयार थे। उन्होंने और उनके साथियोंने उत्तरकाशीके विश्वनाथका दर्शन किया। असली विश्वनाथके पास पहुँच कर भी वह प्रयागसे काशी नहीं जा सके थे। वह नहीं तो यही काशी सही। उत्तरकाशी अभी बड़ी बस्ती नहीं थी। दूकानें भी दो-चार ही थीं, और एक-दो धर्मशालाएँ थीं।

गंगोत्री—उत्तरकाशीसे आगे योगी-महात्माओंके मिलने की आशा दिलाई गई थी। वह बड़ी लालसासे उधर बढ़ रहे थे। पहले ही पड़ाव पर रातको ठहरे, तो पता लगा, पासके एक गाँवमें एक चश्मेके किनारे एक महात्मा रहते हैं। स्थान रास्तेसे तीन मील हट कर था। हरिदास बड़े प्रसन्न हुए। वैष्णवदास भी अपने तरुण साथीको निराश नहीं करना चाहते थे। दोनों वहाँ पहुँचे। महात्मा वैरागी साधु थे। वह तीन दिन उनके पास ठहरे। महात्माकी शिक्षा तुलसी रामायण तक सीमित थी। पूरी तरह रामायणको समझते थे, यह कहना मुश्किल था। हाँ, वह प्राणायामका कुछ-कुछ अभ्यास करते थे, और राजयोगकी भी कुछ बातें जानते थे। उनके पास जो ज्ञान था, उतना तो हरिदास बाबा गोपालदासकी कृपासे पहले ही प्राप्त कर चुके थे। यह मालूम हुआ कि वह दस सालसे यहीं रह रहे हैं। वह घूमे हुए भी थे। हरिदासका उनसे काम बननेवाला नहीं था, और न उन्होंने किसी अच्छे योगीका पता ही बतलाया।

गंगनार्णाके तप्तकुण्डमें स्नान कर आगे बढ़े। सूखी चट्टीकी चढ़ाई उन्हें कड़वी नहीं मालूम हुई, यद्यपि वह देवप्रयागसे कहीं अधिक कड़ी थी। हर्सिल पहुँचे—जिसे पण्डोंने हरिप्रयाग नाम दे रक्खा है। गंगाको दो जगह पार कर वह अब भैरवघाटीके झूलेके पुल पर पहुँचे। आधे आसमान तक पथरीले पहाड़ोंपर लटका यह झूला पार करनेवालेको बहुत भयंकर मालूम होता था। अब तो उसका पता भी नहीं है। लोग नीचे लोहेके पुलसे चले जाते हैं। झूलेके बीचमें जाकर यदि किसी की शामत आई और उसने नीचे भोट गंगाकी पतली रुपहली रेखा देखनी चाही, तो उसके प्राण सूख जाते थे। झूला पार कर आगे साढ़े ६ मील देवदारोंकी शीतल छायाके बीचकी यात्रा बड़ी सुखद और दृश्य बहुत मोहक था। वह गंगोत्री (१०,३०० फुट) पहुँच गये। अभी उसकी माया बढ़ी नहीं थी, और गंगामैयाके मन्दिरको छोड़ बाकी कुछ लकड़ीकी झोपड़ियाँ ही दीख पड़ती थीं। वैष्णवदास और कुछ साधुओंने जोर किया, कि गोमुख भी देख आयें। गोमुख वह स्थान है, जहाँ गंगा बर्फकी चट्टानसे बाहर निक-

लती है। सोलह या अठारह मीलकी यात्रा थी। सड़क नहीं थी। ऊभड़-खाभड़ पत्थरोंके ढेरके बीचसे चलना पड़ा। जगह-जगह अभी भी बर्फके बड़े-बड़े खण्ड पड़े हुए थे। गंगामैयाका दर्शन किया। उसी दिन लौटके आना संभव नहीं था। रात ऐसी जगह बितानी पड़ी, जहाँ न कोई गाँव था, न टिकान। पहाड़की एक दरीमें सर्दीके मारे ठिठुरते लोगोंने रात काटी।

गंगोत्रीमें अभी दिगम्बर साधुओंकी भीड़ नहीं थी। लिहाफों और कम्बलोंको ओढ़कर भी जहाँ सर्दी कम होनेका नाम नहीं लेती, वहाँ नंगे रहनेकी कौन हिम्मत करता। पर, आदमी अभ्याससे सर्दीको काफी हद तक सहन कर सकता है, यह इसीसे मालूम होगा, कि अब वहाँ आधे दर्जनसे अधिक दिगम्बर रहते हैं। आजसे बीस-पचीस साल पहले स्वामी कृष्णाश्रमने ही अकेले हिम्मत दिखाई थी। तब भी वह जाड़ोंमें नीचे हर्सिल या किसी दूसरे गाँवमें चले जाया करते थे। अब तो वह बारहों महीने रहते हैं, अपनी शिष्याके साथ अखण्ड तपमें विलीन हैं।

केदार नाथ—पुराने रास्तेसे गंगोत्रीसे ४० मील लौटकर मल्ला चट्टीके पास उन्होंने भागीरथी पार की। अब वह केदार नाथकी ओर चले। भागीरथी के बाद भिलंगणा भी काफी बड़ी नदी है, जिसके बाद मन्दाकिनी आनेवाली थी, जिसकी ही उपत्यकामें केदारनाथ है। इस प्रकार दो बड़े डाँड़ोंका पार करना निश्चय ही था। पर, अधिक ऊँचा पंवाली डाँडा (११,३६४ फुट) है, जिसको पार कर मन्दाकिनीकी उपत्यकामें आते हैं। बीचमें २७ मीलपर बूढ़ा केदार मिलनेवाला था। पहिले कुछ और ही नाम रहा होगा, यहाँ भी पण्डोंने एक केदार बनानेकी इच्छा की। ४,३८० फुटपर अवस्थित यह अच्छा खासा शीतल स्थान है। वहाँ तक पहुँचनेके पहले नौ मीलकी चढ़ाई आई। हरिदासकी मण्डलीमें एक तपसी बाबा थे। लम्बी-लम्बी जटा सिर पर पगड़ीकी तरह बँधी थी, अंगमें भभूत रमाये हुए थे, हाथमें चिमटा-कमण्डल लिये बगलमें कम्बल-मृगछाला दाबे निश्चिन्त चले जा रहे थे। गोधूलिकी बेला थी। गायें जंगलसे चर कर घर लौट रही थीं। उनका गाँव पास हीमें था, जिसके किनारे से सड़क गुजर रही थी। गायें सड़क काटकर घरकी ओर जा रही

थीं। उनमेंसे एकने तपसी बाबाको देख लिया और साथ ही उनकी बगल में लटकते बाघम्बरको भी। शायद बाघसे चिढ़ हुई, या तपसी बाबाके रूपसे ही। वह हुङ्कार मारकर सींग ताने उनके पीछे पड़ी। तपसी बाबाने चिमटा खड़खड़ाया। वह और भी भड़क उठी। तपसी बाबाका भी हाथ कुछ ढीला पड़ा। पर बाबा भी हिम्मत हारनेवाले जीव नहीं थे। उनके हाथमें बिना पेंदीका जगन्नाथी लोटा था। दूसरे हाथको भी खाली करनेके लिए उन्होंने उसे जमीनपर रक्खा और चिमटेसे गायके ऊपर पड़े। बेपेंदी का लोटा उस चढ़ाईकी की जगह में कैसे ठहरता? वह टन-टन-टन करता नीचे की ओर चला। सड़क भी टेढ़ी हो गई थी, इसलिए सड़कका रास्ता छोड़ उसने जंगलका रास्ता लिया। तपसी बाबा अपने जगन्नाथी लोटेसे निस्फिकिर नहीं हो सकते थे। लेकिन इस वक्त तो दूसरी मुसीबत सिरपर थी। पहाड़ी गाय भले ही मासे भरकी हो, लेकिन उसके सींग तो तेज थे। फिर उसे वसिष्ठकी नंदिनी गायकी संतान होनेका भी अभिमान था। अकेले तपसी बाबा गायसे नहीं निबट सकते थे। साथी भी उनकी मदद-के लिये चले आये। गाय भाग गई। तपसी बाबाने जंगलमें जगन्नाथी लोटेके ढूँढनेकी कोशिश की, लेकिन अब वह कहाँ हाथ आनेवाला था? लोगोंके लिए यह मजाकका साधन हो गया, और बेचारे तपसी बाबा सुपात्रसे कुपात्र हो गये।

सारे गढ़वालका पुराना नाम केदारखण्ड है। केदारखण्डके भीतर ही बदरीनाथ भी पड़ता है। उत्तराखण्डकी इस भूमिकी प्रसिद्धि केदारके नामसे होनी यही बतलाती है, कि यहाँके सबसे बड़ा देवता केदारनाथके शंकर ही हैं। बूढ़े केदारकी अभी कोई महिमा नहीं थी, और अब तो मोटरोंने उसको और भी कम कर दिया, क्योंकि धनपात्र लोग दोनों डाँडों को पार करनेकी जगह उत्तरकाशी लौट कर मोटरका रास्ता आसानीसे पकड़ सकते हैं। पंवाली डाँडा अवश्य कड़ा था, पर अब हरि-दासके पैर पक्के हो चुके थे। उन्होंने एक ही दिनमें ४१ मीलकी मंजिल मार त्रिजुगीनारायगमें जाकर डेरा डाला। यह वस्तुतः नारायणका स्थान है। उसका आजकलका नाम हो नहीं, बल्कि ११वीं-१२वीं सदीकी शेष-

शायी भगवानकी मूर्तियाँ भी इसी बातको बतलाती हैं। पर परम्परा यह भी कहती है, कि हरगौरीका व्याह इसी जगह हुआ था। यही नहीं, बल्कि जिस अग्निकी चारों ओर भावरें पड़ी थीं, वह आज भी अखंड जल रही है।

त्रिजुगीसे उतर कर असली रास्तेको पकड़ वह गौरीकुण्ड होते केदारनाथ पहुँच गये। योगियोंके मिलनेकी अब आशा कम रह गई थी, और वह साधारण साधु यात्रियोंकी तरह चलते हरेक मन्दिर और तीर्थस्थानमें पहुँचते दर्शन करते आगे बढ़ते रहे। केदारनाथसे उखीमठ फिर तुंगनाथ भी गये। वहाँसे चमोलीके सामने बड़ी सड़कको पकड़ कर बदरीनाथकी ओर बढ़े। बदरीनाथमें वह तीन दिन ठहरे। वहाँके पण्डों और दूकानदारोंसे यह जाननेकी कोशिश की, कि यहाँ किसी गुफामें कोई योगी-महात्मा हैं? "नहीं" कोई नहीं कहता था। सभी कहते थे, कि यहाँ हजारों वर्षोंकी आयुवाले सिद्ध पुरुष रहते हैं। लेकिन, उनका दर्शन होना भाग्यकी बात है। कितने तो कसम खा कर यह भी कहनेके लिए तैयार थे, कि ऐसे महात्मा हैं, कि जिनकी भौंहोंके बाल सारे मुँहको ढाँके हुए हैं। हरद्वारसे प्रस्थान करते समय हरिदासको पूरा विश्वास था, कि हिमालय जरूर किसी न किसी महात्माका दर्शन करायेगा। लेकिन, अब तो वह हिमालयके चारों धामों को देख चुके थे और हाथ कुछ नहीं आया था। अब भी दुनिया बहुत बड़ी थी। हिमालयके भी अंगुल-अंगुलको उन्होंने देख लिया था। इसलिये आशा-तन्तुके बिल्कुल छिन्न-भिन्न होनेका खतरा नहीं था। बदरीनाथसे वह लौट कर जोशीमठ का दर्शन करते नीचेकी ओर उतरे। वर्षा खूब होने लगी थी। सड़क कहीं-कहीं टूट गई थी, जिसके कारण रास्ते खतरनाक हो गये थे। पर, अब वह पहाड़ी रास्तोंके अभ्यस्त थे। रास्तेके कई नामधारी प्रयागोंमें होते वह रामनगर पहुँच गये, जहाँ पाँच महीने बाद उन्हें रेलका दर्शन हुआ। अब उन्हें गर्मी मालूम होने लगी। ठण्डा पानी पीनेकी इच्छा तो पूर्ण होती नहीं दिखाई देती थी, मैदानका पानी फीका-फीका मालूम हो रहा था। कहाँ चला जाये, यह उन्हें सोचना था; पर लक्ष्य न होने पर भी रास्ते तो उनके पैरों के नीचे थे।

अध्याय ४

योगका चक्कर (१६०७-६ ई०)

वर्ष २०

बाबा हरिदास अब पैदल विचरने लगे, घूमते-फिरते हरद्वार पहुँच गये। फिर ऋषिकेश आये। सोचा, यदि योगी नहीं मिले, तो कमसे कम योगके ग्रंथोंको ही पढ़ना चाहिये। जब कोई योगी मिल जायगा तो योगकी क्रियायें भी सीख लेंगे। ऋषिकेशमें अभी साधुओंकी संख्या कम थी और उनकी कोई जगद्विख्यात दूकान भी नहीं खुली थी। पर, योग या वेदान्तके ग्रन्थोंको पढ़ानेवाले साधुओंका अभाव नहीं था। हरिदास जानते थे कि उनका ज्ञान केवल पण्डिताईके लिए है। वह दूसरोंकी लिखी पंक्तियोंको पढ़ा सकते हैं, पर क्रिया नहीं बतला सकते। जिनको योगका पता नहीं, पर ज्ञान-वेदान्तका गर्व था, वह कह देते—"योगमें क्या धरा है। हम सब एक ब्रह्म ही हैं। ब्रह्मसे भिन्न दुनियामें कोई चीज नहीं। ब्रह्म बनना नहीं है, हम तो स्वतः बने-बनाये ब्रह्म हैं?" ऋषिकेशमें वह कितने ही दिनों तक उधेड़बुनमें पड़े रहे। अक्तूबर (१९०७) के अन्तिम दिन थे। इसी समय उन्हें एक पीले वस्त्रवाले वैष्णव साधु सद्गुरुप्रसाद शरण मिले। हरिदास साम्प्रदायिक संकीर्णताके पक्षपाती नहीं थे, जहाँसे भी गुण मिले, वहाँसे उसे लेनेके लिये तैयार थे। पर अपने वैष्णव सम्प्रदायका कोई पुरुष मिले तो उससे अधिक दिल खोल कर बात की जा सकती है। सद्गुरु अपने वैष्णव साधु थे और साथ ही दोनोंका गुरुद्वारा अयोध्या हीमें था। अयोध्यामें पुरुष रूपमें भक्ति करनेसे सिद्धि न मिलनेपर किसी महात्माने स्त्री रूपमें रामका भजन करके उन्हें प्राप्त किया। उन्होंने सखी मत चला दिया, जानकीघाटमें जिसका आरम्भ हुआ और फिर किलेमें इसकी एक शाखा श्री जुगलानन्द

शरणने स्थापित की। जुगलानन्द शरणके पन्थमें चेला होनेवाले गृहस्थ हों या साधु, अपने नामके साथ दास नहीं शरण लगाते हैं। सभी सखी भावसे भगवान्‌की भक्ति करना आवश्यक समझते हैं। गृहस्थोंमें भी शरण नामवाले कितने ही पुरुष मिलते हैं। पर, उससे यह न समझना चाहिये, कि सभी सखी बनकर भगवान्‌का भजन करते होंगे और सभीको मासिक धर्म होता होगा। किलेवाले सखी लोगोंके नामके साथ दासकी जगह शरण लगा करता था। यह भी याद रखनेकी बात है कि लालश्री-की जगह बेंदी लगानेवाले अयोध्याके बड़े स्थानके महापुरुषने दासकी जगह अपने नामके साथ प्रसाद लगाना शुरू किया था, जो अब भी वहाँके महन्तोंमें प्रचलित है। बेंदी सम्प्रदायसे ही पीछे सखी सम्प्रदाय निकला। यद्यपि प्रसाद और शरण दोनोंको साथ लगाना नहीं देखा जाता, पर सद्‌गुरुप्रसाद शरणमें इन दोनोंको पाया जाता था।

सद्‌गुरुप्रसाद शरण शिक्षित व्यक्ति थे। उनके रहन-सहनमें संस्कृति और नागरिकता देखी जाती थी। यद्यपि उनमें साम्प्रदायिक कट्टरता नहीं थी, पर "सखियों" जैसे पीले कपड़े पहनते थे। कभी-कभी सिरके तिलक में लालश्रीके नीचे जानकीजीकी बिंदिया लगा लेते थे। सखी लोग सगुण उपासना और भक्तिको ही एकमात्र भगवान्‌के मिलनेका साधन मानते हैं, लेकिन सद्‌गुरुजी अपनेको उतने हीमें सीमित रखनेवाले नहीं थे। उनकी रुचि योगकी ओर थी। वैष्णवोंकी कट्टरता न होनेका ही यह प्रभाव था, जो कि वह हरद्वार और ऋषिकेशकी ओर अक्सर घूमा करते थे। अच्छे पढ़े-लिखे थे। योग-दर्शनका अध्ययन किया था। इन बातोंके मालूम होनेपर हरिदासने समझा, मेरा भाग्य खुल गया। धीरे-धीरे उनकी श्रद्धा बहुत बढ़ गई। वैष्णवमें एकका चेला होकर फिर दूसरेका चेला बनना नहीं देखा जाता, या जरूरत नहीं समझी जाती। पर, हरिदास बाबा रघुनाथदासकी छावनीमें "मूँड़ दिया माँग खाओ" वाले चेला बने थे। न गुरुका उनके प्रति स्नेह था, न उनका ही गुरुके प्रति कोई भाव। वहाँसे किसी परमार्थके प्राप्तिकी भी सम्भवना नहीं थी। सद्‌गुरुशरणको चेला बनाना नहीं चाहिये था, जब कि हरिदास भी उन्हींकी तरह वैरागी

थे। सखी मतकी दीक्षा लेनेकी योगके लिए भी कोई आवश्यकता नहीं थी। हरिदासने कुछ देखा ही होगा, तभी तो वह दुबारा चेला बननेके लिए तैयार हुए। चेला बननेपर बाप-माँके दिये हुए चन्द्रको हटा कर ईश्वरदासने हरिश्चन्द्रसे उन्हें हरिदास बना दिया था। अब सद्‌गुरुप्रसाद शरणने उनके नामके दासको निकाल कर शरण लगा दिया।

सद्‌गुरुजी ऋषिकेश आनेपर लक्ष्मणझूलामें महन्त गरीबदास—फलाहारी बाबा—के स्थानमें बहुत ठहरा करते थे। गरीबदास महन्तको उनके सखी होनेसे कोई काम नहीं था। वह शिक्षित समझ कर उनकी आवभगत किया करते थे। कातिकके अन्त तक उस साल सद्‌गुरुजी वहीं रहे। सर्दी आनेको हुई, तब उन्होंने वहाँसे चलनेका विचार किया। यहाँ रहते-रहते साधुओंकी गोष्ठीमें अक्सर रसायन (सोना-चाँदी बनाने) की चर्चा छिड़ जाती थी। सद्‌गुरुशरण कहते—"रसायन विद्या है तो सच, पर वह हजारोंमेंसे एकाधको ही आती है।" दूसरे साधुओंके मुँहसे भी हरिजी रसायनकी बात सुन चुके थे। योगका चसका तो था ही। अब रसायनकी ओर भी वह आकृष्ट हुए—यदि सोना-चाँदी बना सकें, तो फिर किसीके सामने हाथ पसारनेकी क्या जरूरत। यही नहीं दूसरोंको भी निहाल कर सकते हैं। सद्‌गुरुप्रसाद शरणजीकी ओर आकृष्ट होनेकी यह दूसरी बात पैदा हो गई। इसी समय योग-सम्बन्धी कुछ पुस्तकोंके खरीदनेकी जरूरत थी, पासमें पैसा नहीं था। चलना था, इसलिए रास्तेकेलिए भी कुछ सम्बल आवश्यक था। पैसा देनेवाला भी नहीं था। सद्‌गुरुप्रसाद अपने नये चेलेसे कई बार कह चुके थे, कि जरूरत पड़नेपर हम किसीके पास माँगने नहीं जाते, पैसा हमारे पास स्वयं आ जाता है। कैसे आ जाता है, इसका अर्थ हरिकी समझमें नहीं आया था। एक दिन गुरुजी कहने लगे—"अच्छा, हरिशरण, रास्तेके सम्बलकी आवश्यकता है, और तुम्हें पुस्तकें भी चाहिये। इसका प्रबन्ध करना है।" उन्होंने बटुयेमेंसे एक रुपया निकाल कर चेलेके हाथमें थमाते कहा—"ऋषिकेशमें जाकर दो शीशियोंमें चार-चार तोला पारा और थोड़ा तेल डाल कर लाओ।" हरि ले आये। अगले दिन शामको टहलनेके लिए

निकले। जङ्गलमें अनारका पेड़ था। गुरुने कहा, उसके दस-बारह पत्ते तोड़ लाओ। चश्मेके किनारे फर्न (वनस्पति-आश्रित वनस्पति) लगी हुई थी, जिसे सागबीब बूटी कहते हैं। उसके भी उतने ही पत्ते तोड़ लानेके लिए कहा। गंगा के किनारे उन पत्तियोंको उन्होंने खूब बारीक पिसवाकर दो-दो टिकियाँ बनाईं। लौटते समय रास्तेसे कुछ कण्डे चुनवा लिये। रातको सब साधु सो गये। तब गुरुने जमा की हुई चीजोंको लेकर रसोईमें चलनेके लिए कहा। हरिने सब चीजें रख दीं। गुरुजीने एक कण्डेमें गड्ढा बनाया। उनमें अनार के पत्तोंकी टिकिया रख दी, फिर दूसरे कण्डेमें भी उसी तरह गड्ढा बना कर सागबीबकी टिकिया रख दी। कुछ कण्डे छोटे-छोटे करके जमीनपर चुन दिये, उसपर अनारकी टिकियावाला कण्डा रख कर उसके गड्ढेमें टिकिया के बीचमें तेल-सहित पारा डाल दिया, और उसपर दूसरी टिकियावाला कण्डा उलट कर ढाँक दिया। इसी तरह दूसरी शीशीके पारेको भी रख कर ढाँक दिया। चारों ओर कण्डा जमा कर आग दी, और दोनों ही आकर अपने आसनपर सो गये।

सबेरे ४ बजे ही गुरुने चेलेको जगाकर कहा—रसोईमें जाकर रातके रक्खे पारेको उठा लाओ। हरि रसोईमें गये। कण्डे जल कर राख हो गये थे। हाथ चलाया, तो उसमें पारा जमी हुई डलीकी शकलमें मिला। लाकर गुरुको देने लगे। गुरुने कहा—झोलीमें रख लो, दिनमें ऋषिकेशमें ले जाकर बेंच आना। उन्होंने हिदायत कर दी, कि इसकी चर्चा किसीके सामने न करना। दिनमें देखनेपर वह डलिया चाँदीकी लग रही थी। वह सोनारके पास ले गये। चाँदी थी ही, और आठ तोले। सोनारने चार रुपया दिया। सोनार पूछने लगा—चाँदी कहाँ से लाये। बतला दिया—गुरुजीके पास से लाया हूँ। पारा आठ आने का लगा था, और सोनार से ठगे जानेपर भी चार रुपया मिले थे। एकका आठ, बड़े लाभका सौदा था। हरि बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने रुपयों को लाकर गुरु जी को दे दिये। गुरु ने तीन रुपया पुस्तक खरीदने के लिए दे दिया। हरिके पास अपना योगदर्शन हो गया। गुरुके प्रति उनकी अनन्य भक्ति हो गई। रसायनके सीखनेके लिए किसीके पास जानेकी जरूरत

नहीं थी, और न दुनियामें किसीके सामने पैसेके वास्ते हाथ फैलानेकी आवश्यकता रह गई। गुरुजीने एक दिन यह भी कहा, कि चाँदीको आसानीसे सोनेमें भी बदला जा सकता है। हरि कहने लगे फिर चार तोले सोना ही बना लेना अच्छा था, ८८ रुपया मिल जाता। सद्गुरुने कहा—इस समय यहाँ उसकी बूटी नहीं मिलती, और न वह आजकल पैदा होती है। वह चैत-बैसाखमें उगती है, और वर्षाकी समाप्तिके साथ सूख जाती है।

हरि अब रसायन के लोभ में पूरी तरह लिप्त हो गये, और अनन्य भाव से गुरु की सेवा करने लगे। सद्गुरु उन्हें योग-दर्शन भी पढ़ाते रहे। गुरु ऋषिकेश से मैदान की ओर चले। हरदोई जिले के पास बेहटाबुजुर्ग और निमिसार के बीच एक छोटा-सा गाँव था, जहाँ गुरु की जन्मभूमि थी। वहाँ होते वह लखनऊ, बाराबंकी आदि कितने ही शहरों में विचरते रहे। सभी जगह लोग उनकी बड़ी इज्जत करते। कितने ही उनके गृहस्थ शिष्य थे। कथा खूब किया करते। उनकी कथा का ढंग भी सुन्दर था और रूप सम्पत्ति भी काफी प्रभावशाली थी। आयु ३९–४० वर्ष की थी। सिर से पैर तक सारा बदन सौन्दर्य में ढला हुआ था। रंग गोरा था। वेश-भूषा भी बड़ी विनीत, पर मनोहर थी। स्त्रियाँ बलात् उनकी ओर आकृष्ट होतीं, और उनकी सेविकाओंकी संख्या काफी थी। पूजा-दक्षिणा तो चढ़ा ही करती थीं, सद्गुरु प्रसाद शरणका रूप ही पुरुष का था, नहीं तो वह साक्षात् रामजी की पटरानी जनक-नंदिनी थीं। इसी भावना से स्त्रियाँ उनकी खूब चरण-सेवा किया करतीं। हरि इसको देखते जरूर थे, लेकिन अभी इस सबको सन्तों की लीला समझते थे। अभी वह इस तथ्य पर नहीं पहुँचे थे, कि तरुण सुन्दरियों का इतना घनिष्ठ सम्पर्क सन्तलीला तक ही सीमित नहीं रह सकता।

डेढ़ महीने की यात्रा में सद्गुरुजी ने पाँच बार पारे से चाँदी बनाई। उनके पास पैसे की कमी नहीं रहती थी। जब इतने लक्ष्मी-पात्र चेले-चेली उनका चरणामृत लेने के लिये तैयार थे, तो पैसों की

क्या कमी हो सकती थी। सम्भवतः चाँदी बनाकर हरि पर अपना प्रभाव अधिक लादना चाहते थे। साथ रहने में हरि को यह फायदा हुआ, कि उन्होंने योग-दर्शन को अच्छी तरह पढ़-समझ लिया। सद्गुरुजी पढ़ा भर सकते थे। उन्होंने योग का अभ्यास नहीं किया था, इसलिये पुस्तक-ज्ञानसे अधिक दे नहीं सकते थे। सद्गुरुके चरणोंमें रहनेका उद्देश्य दो ही थी—योगदर्शन पढ़ना और रसायनकी विधि सीखना। सद्गुरुने पहला काम तो कर दिया, लेकिन दूसरेका रहस्य नहीं बतलाया। वह रहस्य था ही क्या? पारा वह हरिके हाथसे ही खरिदवा कर मँगवाते थे। दोनों प्रकारके पत्ते उन्हींके हाथसे पिसवाते, केवल कण्डोंमें आग अपने हाथों लगाते थे। हरिने समझा, इसमें कोई रहस्य नहीं है, जिसे उन्हें बतानेकी जरूरत है। गुरुकी आज्ञा बिना उन्होंने दो बार पारा लाकर उसी विधिसे चाँदी बनाने का प्रयास किया, लेकिन पारा उड़ गया और हाथ कुछ नहीं लगा। उन्हें ख्याल आया, कोई और भी बात है, जिसे गुरुने नहीं बतलाया। वह यह नहीं समझ सके, कि क्या जाने गुरुजी चुपकेसे वहाँ चार तोला चाँदी रख आते हैं। बहुत आग्रह करनेपर सद्गुरुने कहा, कि इसके साथ रसांकुश मन्त्र जपने की आवश्यकता होती है। वही मन्त्र रस (पारा) पर अंकुश रखता है, नहीं तो पारा क्या कभी आगपर टिक सकता है? हरिने प्रार्थना की—महाराज, वह मन्त्र मुझे बतला दीजिये। "हाँ, हाँ, जरूर बतलायेंगे" कहते रहे, पर उन्होंने बतलाया नहीं। फिर आग्रह करने पर कहा, ग्रहण के समय पर उसे सिखाया जाता है। उनकी टालमटोलसे हरि जान गये, कि गुरुजी केवल टरकाना चाहते हैं। अब भी निश्चय नहीं कर पाये थे, कि यह केवल धोखा-धड़ी हो सकती है। इस धोखाधड़ीको किसीसे पैसा ऐंठनेके लिये सद्गुरुशरण इस्तेमाल करें, इसकी जरूरत नहीं थी, क्योंकि वह कानूनी खतरेकी बात थी, और सद्गुरुशरणको अपने कामके लिये पैसोंकी कमी नहीं रहती थी। हरिका आकर्षण अब गुरुके प्रति कम हो गया। जब उनसे काम बननेवाला नहीं था, तो पीछे-पीछे घूमनेसे क्या फायदा?

लक्ष्मणझूला :—१९०८ ई० का वैशाख (अप्रैल या मई) का महीना था। गुरुजीके साथ हरिशरण फिर हरिद्वार आये। अबकी बार यात्रामें जब गुरुजी बुलन्दशहरसे होकर गुजरे, तो उन्हें एक ब्राह्मण लड़का मिल गया। वह शिष्य बनना चाहता था। लड़केने लघुकौमुदी पंचसंधि तक पढ़ी थी। हरिद्वारमें सद्गुरुशरणने उसे रामउदार नाम रख कर अपना शिष्य बना लिया। वह दो-तीन बार लक्ष्मणझूलामें आकर फलाहारी बाबाके पास ठहरे। वहीं ही हरिशरण बाबाको वैष्णव-दास भी मिल गये। फलाहारी बाबा गरीबदास सद्गुरुप्रसादकी बड़ी इज्जत करते थे, यह हम बतला आये हैं। वह बीमार रहा करते थे। उनका कोई चेला नहीं था। सद्गुरुशरण गर्मियोंमें दो-दो महीने वहीं बड़े आरामसे ठहरते थे। सोचा इसी रामउदारको क्यों न महन्तका चेला बनवा दूँ। उन्होंने हरिशरणजीसे भी सलाह ली—यदि यह चेला बन जायेगा, तो यहाँ ठहरनेकी हमें और भी सुविधा रहेगी। सद्गुरु-प्रसादने १४-१५ वर्षके लड़केको दिखला कर कहा, इसीको आप अपना चेला बना लें, पढ़ा-लिखा ब्राह्मण बालक है। गरीबदासके लिये और क्या चाहिये था ? उन्होंने उसे रामउदारदास नाम देकर अपना चेला बना लिया। एककी जगह दो बार और एक मुँहके स्थानपर दो मुँहोंसे मंत्र लिया जाये, तो इसमें बनता-बिगड़ता क्या है। बाबा गरीबदास बहुत दिनों नहीं जिये और रामउदार लक्ष्मणझूला स्थानके महन्त हो गये। उन्होंने स्थानकी बहुत उन्नति की।

अध्याय ५

मानसरोवर-यात्रा (१९०८ ई०)

सद्गुरु के प्रति अब हरिशरण बाबाका कोई आकर्षण नहीं था, लेकिन चेला थे, इतने दिनों तक मानते-जानते आये थे, इसलिए आँखोंमें मुरौवत तो थी ही। इधर सैलानी वैष्णवदास फिर मिल गये, जिनके पैरोंमें चक्का बँधा था। हरिदास या हरिशरण उन्हें अच्छे साथी मालूम होते थे। उन्होंने ही प्रस्ताव किया—चलो कैलास-मानसरोवर चलें। हरि-शरणजीने गुरुके सामने जानेकी इच्छा प्रकट की, और पूछने पर बतलाया—"सुनते हैं वहाँ घोर तपस्या करनेवाले सन्त रहते हैं। तपस्याके कारण उनकी आयु कई सौ वर्षोंकी होती है। वहाँके मठोंमें बड़े-बड़े योगाभ्यासी महात्मा हैं। अखबारोंमें भी दीर्घजीवी लोगोंके वहाँ रहनेकी बात पढ़ी है। यह भी सुना है कि वहाँ मानसरोवरमें हंस रहते हैं, जो मोती चुगनेके लिए वहाँ जाते हैं।" सद्गुरुप्रसादने बहुत समझानेकी कोशिश की—"तुम जो कुछ सुनते हो, उसमें कोई तथ्य नहीं है। कैलास मानसरोवर ऐसा देश है, जहाँके लोग बौद्ध धर्मको मानते हैं। उनके साधुओं—लामा-ओं—का धर्म और पूजा-पाठ बिल्कुल भिन्न है। वह सब भक्षाभक्ष्य खाते हैं। जैसे योगाभ्यासीको तुम ढूँढ़ना चाहते हो, वह वहाँ नहीं मिलेंगे। फिर उनकी बोली भी अलग है। न वह तुम्हारी बात समझेंगे, न तुम उनकी बात। हमारी बातपर विश्वास नहीं, तो यहाँ सर्दियोंमें भीख माँगनेके लिए बहुत से भोटदेशी आदमी आते हैं, उनसे पूछ लो।" हरि-शरणका अब गुरुपर बिल्कुल विश्वास नहीं रह गया था। वह समझते थे—"यह भरमा कर अपनी सेवामें रखना चाहते हैं।" उधर वैष्णवदास भी कान भर रहे थे। हरिशरणने कहा—"अब कुछ दिनके लिए आज्ञा दीजिये, कि कैलास मानसरोवरका दर्शन कर आयें।"

गुरुको प्रणाम कर बिस्तरा उठा एक दिन हरिजी वैष्णवदासके साथ चल पड़े। लक्ष्मणझूलासे गंगोत्रीका रास्ता पकड़ कर वह जल्दी और आसानीसे थोलिंग मठ होते कैलास मानसरोवर जा सकते थे। पर, शायद वैष्णवदासको इसका पता नहीं था, अथवा वह जानबूझ कर पहाड़ोंमें घूमते जाना चाहते थे। दोनों ऋषिकेश से देहरादून पहुँचे। फिर नाहन गये। वहाँसे गिरि नदीके पार रेणुकाके भव्य सरोवर पर पहुँचे। रामायण तो बचपनसे वह सुनते आये थे, कई बार उसका पारायण किया था। सैकड़ों चौपाइयाँ और दोहे उन्हें याद थे, जिनके बलपर वह तुलसीकी भाषा अवधी—जो कि उनकी भी अपनी मातृभाषा थी—में दोहा-चौपाई बना सकते थे। यमदग्नि, उनकी पत्नी रेणुका और मातृघाती सुपुत्र परशुरामकी बात याद थी। बतलाया गया, कि रेणुका यहीं रहती थीं। यहीं पुत्रके फरसेसे गला कटा कर वह सरोवरके रूपमें परिणत हो गईं। तालाब गिरि नदीसे डेढ़-दो मील हट कर है, और बरसातके समय कभी-कभी दोनोंका सम्बन्ध हो जाता होगा, नहीं तो बीचमें कोई पानीकी धार नहीं है। गिरि जैसी पहाड़ी नदीमें मगर कहाँ हो सकते हैं, लेकिन इस सरोवरमें मगर दिखाई पड़े। इसे भी पण्डे-पुजारी रेणुका माईका चमत्कार बतलाते थे। पर, चमत्कारकी क्या जरूरत थी। किसीने एक जोड़ा ला कर डाल दिया, फिर उनके बढ़नेमें क्या देर लगती है? सरोवरमें मगर डालना मृत्युको डालना है। यह कोई अच्छी बात थोड़े ही थी। स्थान बहुत ही सुन्दर था। किनारेके पहाड़ हरियालीसे लदे थे। उस समय मेलेका समय नहीं था, इसलिए कोई साधु दिखाई नहीं दिया। रेणुकासे वह पहाड़ों पहाड़ जुब्बल पहुँचे, जो उस समय एक रियासत थी। जुब्बलसे वह रामपुर राजधानी पहुँचे। यहीं उन्हें मानसरोवर जानेवाले पाँच और साधु मिल गये। अब उनकी सातकी जमात थी। कनौरके चार व्यापारी तिब्बतमें गरतोक जा रहे थे, उनसे बातचीत की। व्यापारियोंने बतलाया, यात्रा लम्बी है, रास्तेमें हर जगह चीजें नहीं मिल सकतीं। कुछ सम्बल ले लेना, नहीं तो रास्तेमें तकलीफ होगी। सबके पास कुछ न कुछ पैसा था, हरिशरण ही ऐसे थे, जिनके पास कुछ

न था। वह घबराये। वैष्णवदासने कहा—"चिन्ता न करो, गुजारा हो जायेगा। उनके पास कुछ मालमता थी।

१९०८ का अगस्तका महीना था। काफिला सतलजके किनारे-किनारे ऊपर की ओर चला। सात साधु, चार व्यापारी, दो भोटदेशी तथा तीन घोड़े थे। सराहन होते वाँगतूके पुलसे उन्होंने सतलजको पार किया। अब उसके दाहिने किनारेसे चिनी, कनम, स्पू होते भारतके अन्तिम गाँव नमृग्यामें पहुँचे। पहाड़ी बोली वह कुछ समझ सकते थे, या पहाड़ी लोग उनकी भाषा आसानीसे समझ सकते थे, क्योंकि वह हिन्दीके समीप थी। कनौरी बोलीके इलाकेमें पहुँचे। यद्यपि वह हिन्दीसे बहुत अन्तर रखती है, लेकिन सम्पर्कके कारण वहाँके पुरुष प्रायः सभी हिन्दी बोल-समझ लेते थे। स्पूसे नमृग्या तक उन्हें तिब्बती बोलीवाले भारतमें जाना पड़ा, जहाँके लोग भी हिंदी कुछ समझ लेते थे। अब तिब्बत की सीमाके भीतर घुसे, जो चार मीलपर शिपूकीके डाँडेके ऊपर मिली। अभी तक पहाड़ों की जितनी चढ़ाइयाँ उन्होंने चढ़ी थीं, वह इसके सामने खेल थीं। डाँडेसे आठ मील नीचे उतरनेपर तिब्बतका पहला गाँव शिपूकी मिला। दृश्यमें कोई भारी परिवर्तन नहीं हुआ, क्योंकि वह बहुत कुछ वैसा ही था, जैसा कि स्पूसे नमृग्या तक उन्होंने देखा था। पर, बोलीका कोई सहारा नहीं था, और न यहाँ साधुओंकी इज्जत करने वाले कोई थे। वह गूँग (५ मील), ठिआंग (१५ मील), मियंग (१२ मील), शिरिंग ला (घाटा, २३ मील) को पार किया, जो समुद्रतलसे १६,४०० फुट ऊँचा है। मियंग-से १०८-९ मील जानेपर वह पश्चिमी तिब्बतकी राजधानी गरतोकमें पहुँचे। व्यापारियोंको यहीं अपना काम करना था, मानसरोवरके लिए जानेवाले आदमी गरतोकमें अक्सर मिल जाया करते हैं। गरतोक बड़ा बाजार है। पश्चिमी तिब्बतके राज्यपालका निवास होनेके के कारण उससे लोगोंका काम भी रहता है। मानसरोवरके आदमियोंके साथ अब सातों मूर्ति उधर चले। उन लोगोंका गाँव बीस मील पीछे ही था, जहाँ-से उन्होंने मानसरोवरका रास्ता बतला दिया।

रास्ता भूलने-भटकने लायक नहीं था, दूसरे दिन सातों जने मानसरो-

वर पहुँच गये। सात साधुओंमें वैष्णवदास, हरिशरण और एक तिरहुतिया बाबा वैरागी थे। बाकी दो कनफटे नाथ और दो संन्यासी थे। मानसरोवरकी विशाल झील देखकर उन्हें प्रसन्नता हो सकती थी, पर जिस समय वह पहुँचे, उस समय वर्षा हो रही थी। मानसरोवरके किनारे जगह-जगह लामा लोगोंकी कितनी ही गुम्बाएँ हैं। गुम्बा तिब्बती भाषामें मठको कहते हैं। हमारे साधु लोग समझते हैं, वह गुफाका अपभ्रंश है। एक बड़ी गुम्पामें सातों मूर्ति जाकर ठहरे। दिनमें जलवृष्टि होती रही, जो कि रातको हिमवृष्टिमें परिवर्तित हो गई। सबेरे उठकर देखा, तो सारे मैदान और पहाड़के ऊपर बर्फकी सफेद चादर पड़ी हुई है, कहीं रास्तेका पता नहीं है। सर्दीके लिए तो पहले हीसे तैयार थे, लेकिन बर्फ पड़नेके बाद हवा तेज हो गई, जिसके कारण वह और भी दूनी हो गई। तिरहुतिया बाबा आनेके ही दिन मानसरोवरमें नहा आये थे। अब इस सर्दीमें भला किसकी हिम्मत थी, कि मानसरोवरमें डुबकी ले, चाहे उसके लिए धर्मराजने स्वयं स्वर्गसे विमान भेजा हो। बिहारी बाबाने दूसरे दिन फिर हिम्मत की, लेकिन सर्दीके मारे डुबकी लगाते ही न लोटा उठा सके, न लँगोटी निचोड़ सके। शरीर अकड़ गया। मुश्किलसे गुम्बा तक पहुँचे। चूल्हेके पास उन्हें बिठाया गया, नहीं तो प्राण-पखेरूके उड़नेमें देर नहीं थी। अब किसीको मुफ्तमें प्राण गँवानेका ख्याल भी नहीं उठ सकता था। सबसे पक्के धर्मात्मा बिहारी बाबा ही थे। जब वह अपनी तपस्यामें कच्चे निकले, तो दूसरोंसे क्या आशा हो सकती थी?

सातोंके सातों जने अनाड़ी थे, नहीं तो उन्हें जान लेना चाहिए था, कि सितम्बर अक्टूबर मानसरोवर जानेका समय नहीं है। इस समय तो लौटकर देश धर लेना होता है। जो हिमवृष्टि मानसरोवरके तट पर हुई थी, वह वहीं तक सीमित नहीं थी, उसने सारे पहाड़ी डांडों (घाटों, जोतों, लेकों) को बर्फसे ढाँक दिया था। अब वह पार नहीं किये जा सकते थे। गर्मीके आने तक मानसरोवरके किनारे पड़े रहनेके सिवाय अब उनके लिए कोई चारा नहीं था। बिहारी बाबा भाग्यके लिए रोया करते थे। वैष्णवदास पेशावरी थे। वैष्णव होनेसे पहले माँसका रस ले

चुके थे। हरिबाबा भी नौजवान थे, और उनका वैष्णव धर्मके साथ कोई बहुत जबर्दस्त आग्रह नहीं था। कनफटे और संन्यासी तो गंगा गये गंगादास, जमुना गये जमुनादास थे, पर, बिहारी बाबा पक्के वैष्णव थे। वह यहाँ धर्म गँवाने नहीं, बल्कि धर्म कमानेके लिए आये थे। सुन्दरदास-की समस्या दो-चार दिनमें हल होने वाली नहीं थी। गुम्बाके लामा जानते थे, कि यह सातों आचारहीन-धर्मी हैं। पर, उनके महायानमें प्राणिमात्रके साथ दया दिखाना, उनके लिए प्राण तक दे देना कर्तव्य बतलाया गया है, वह सातों मूर्तियोंको भूखे मरने कैसे देते? वही भोजन दे सकते थे, जो खुद खाते थे। सत्तू अपने खाते थे, और वह उनके लिये भी हाजिर था। लेकिन इनमें से किसीने भूख या कभी स्वाद बदलनेके लिए सत्तू भले ही खाया हो, पर उसीपर गुजारा नहीं किया था। बाबा सुन्दरदासके लिए तो सत्तू भी बल्कि भक्ष्य चीज नहीं हो सकती थी। खैर, उससे वैष्णव धर्म नहीं जायगा, यह उन्होंने स्वीकार किया। एक दिन लामाओंके लिए मांस पकते देखकर सातों मूर्तियोंमें किसीने पहल की। फिर एकके बाद एक छओंने उसे जल्दी ही भक्ष्य बना लिया। मांस भेड़ या बकरीका नहीं, बल्कि चमरी (याक) का था। झूठ बोलनेवाले चमरीको मृग कह देते हैं, पर चमरी मृग नहीं, बल्कि गायकी ही एक जात है, क्योंकि दोनोंके गाय-बैलोंके सम्पर्कसे आगे अविच्छिन्न सन्तान चलती है। भला गोमांस खानेवालोंको कैलाश मानसरोवरके दर्शनसे क्या पुण्य मिल सकता था? हाँ विश्वामित्रने आपत्कालमें कुत्तेका मांस खाया था और हिन्दू शास्त्र उसे पाप नहीं कहता। यह भी ठीक है, कि साधारण कालका धर्म दूसरा होता है और आपत्कालका दूसरा। पर, यह बहाना करके आजकल गोमांस खाकर कोई हिन्दू धर्मको बचा नहीं सका। यह अच्छा ही था, जो हमारे सातों सन्त यह नहीं जानते थे, कि चमरी गाय है। मृग कहनेसे सुन्दरदास भी चार-छ दिन बाद रास्ते-पर आ गये। आखिर बिहारमें कौन-सी जात है, जो मांस-मछली नहीं खाती? उन्होंने भी बचपनमें खाया ही होगा। सत्तूसे वह पेट भर सकते थे, लेकिन उसे खाते-खाते मन ऊब गया था। सुन ही रक्खा था "उपवास

करन्ते सत्तू।" सत्तूसे उनका पेट ही नहीं भरता था। आखिर छः जने जब जीभ चटकार-चटकार कर सत्तूके साथ मांस उड़ा रहे थे, तो वह ही क्यों अकेले मल्लू बनते? फिर मानसरोवरमें देखने ही वाला कौन था। जो देखनेवाले थे, वह स्वयं नकटा पंथमें शामिल हो गये थे। एक दिन उन्हों-ने भी हाथ बढ़ाया। जब पहला नेवाला उनके मुँहमें गया, तो यारोंने कहा—"बिहारी बाबाकी जय।"

भोजनकी समस्या तो हल हो गई, पर अब १४,००० फुटके ऊपर का लम्बा तिब्बती जाड़ा शुरू हुआ। नवम्बरसे मार्च तकके पाँच महीने तो उनके लिये घोर साँसत के थे। वृक्ष-वनस्पतिहीन भूमिमें धुनी लगाना सोचनेकी बात भी नहीं थी। लामा लोगोंने उन्हें ठिठुरते देख भेड़के रोयेंवाली खाल देनेका प्रस्ताव किया। सन्तोंने खुशीसे उसे स्वीकार किया। मानसरोवरके जमनेसे पहले ही उन्हें मालूम हो गया, कि पाण्डवोंके पुरोहित ऋषि धौम्यकी बात सोलह आने ठीक है— हिमालयकी वायु सारे दैहिक आध्यात्मिक पापको धो डालती है। बिहारी बाबाने शिक्षा पा ली थी, और अब वह धौम्यके अनुयायी बन गये थे। नौ बजे तक लोग लेटे रहते फिर गरम पानीसे हाथ-मुँह धो लेते। वहाँ वृक्ष कहाँ, कि दातवन मिलती। मानसरोवर जम गया था। गुम्बाके भीतर छोड़ कहींपर मानवका पता नहीं था। चारों ओर भयानक नीरवता छाई हुई थी—न कहीं पक्षी थे, न कीट पतंग। दूरकी आवाज नजदीक सुनाई देती थी। वर्फ और वर्षा दोनों ही इस भूमिमें बहुत कम पड़ती है, तो भी उसकी सफेदी पहाड़ी और उपत्यकाओंमें दिखाई देती थी। लोटेमें पानी बाहर रखते ही वर्फ बन जाता था। खालों में बन्द मक्खन पहले से गुम्बामें जमा किया हुआ था, जो सन्तोंके लिये सुलभ था। पर, दूध दुर्लभ था। चँवरियोंको रखनेपर उनके घास-चारेका प्रबन्ध करना पड़ता, इसीलिये गुम्बाकी चँवरियोंको किसी गाँवमें रक्खा गया था।

भाषाकी कठिनाई उनके लिये सबसे दिक्कतकी बात थी। भारतीय तीर्थयात्री और व्यापारी जाड़ा आरम्भ होनेसे पहले ही देश लौट चुके

थे। लामा लोगोंमें कोई हिन्दी नहीं जानता था। पहले केवल इशारेसे ही वह एक दूसरेको अपने भाव बतलाते। छ-सात महीने उन्हें वहीं रहने पड़े। धीरे-धीरे काम की बातें बोलने लगे। यदि उन्हें विश्वास होता कि हमें और रहना है, तो तत्परताके साथ भाषाका ज्ञान और भी बढ़ा सकते थे। लेकिन, वह तो मानते थे, "हम आ फँसे हैं। गर्मी आते ही यहाँसे चल पड़ेंगे।" महीने भर बीतते-बीतते अब सातों मूर्ति भाग्यपर सन्तोष करनेके लिये तैयार थे। हरिशरण बाबाके पास "हठयोग प्रदीपिका" और तुलसी रामायण जैसी दो-तीन पोथियाँ थीं, जिनका वह पाठ किया करते थे। कभी सत्संग भी करनेकी इच्छा होती, पर क्या खाक करते, जब जानते थे कि हम अभक्ष्य भक्षण कर रहे हैं—"करतब बायस भेस मराला" से वह किसको धोखा देते। सबने अपनी-अपनी घुमक्कड़ी और आपबीती सुनाई। लेकिन, इतनी कथायें कहाँ थीं, जो सात महीनों तक चलती रहतीं। उसी कथाको दुहरानेके लिये सुनने को कौन तैयार होता पर समयको चुपचाप रहकर तो काटा नहीं जा सकता था।

बिहारी बाबा सबसे अधिक अपनेको ही गिरा समझते थे, वह सबसे अधिक धर्मकी ऊँची सीढ़ीपर थे भी। सर्दी असह्य थी। उन्हें विश्वास नहीं था, कि जाड़ा पार कर पायेंगे। इस महापापका फल नर्कमें ही पड़ना था। क्यों न बेचारे बैठे-बैठे रोया करते? मांस का टुकड़ा दूसरोंकी देखा-देखी मुँहमें डाल तो लेते, और उससे शरीरको पोषण भी मिलता था, पर मनको पोषण कहाँ से मिलता? पहले कुछ दिन टहलनेके लिये भी गुम्बासे बाहर जाते थे, पर जब मालूम हुआ कि आस-पास डाकुओंके होने की सम्भावना है, तो उन्होंने उसे छोड़ दिया। सबेरे हाथ-मुँह धोने के बाद चाय-सत्तू मिल जाता। दोपहरको एक-दो बजे पेट भर कर सत्तू, चाय और उबला मांस मिलता। गुम्बाकी छतसे याकके मांसके बड़े-बड़े टुकड़े लटक रहे थे, उसे देखकर विश्वास था, कि यह जाड़ों ही जाड़ों नहीं खतम होंगे।

मार्चका महीना समाप्त होने लगा। अब सूर्यके तापमें काफी गर्मी

थी, लेकिन इस गर्मीसे क्या बनता। उन्हें तो १६,७५० फुट ऊँचे लेपु लेकको पार करके ही भारत लौटना था और अभी वह खुला नहीं था। खैर दिनकी गर्मीसे उन्हें धैर्य बँधा।

अन्तमें एक दिन गुम्बाके लामा लोगोंके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए सातों सन्त वहाँसे चल कर तकलाकोट (तकलाखर) पहुँचे। यहाँ अल्मोड़ाके भोटिया लोगोंकी कुछ दूकानें थीं। उनसे हिन्दीमें बातचीत हो सकती थी। अल्मोड़ाके भोटिया भाइयोंने भी उनकी हिम्मत बँधाई। तकलाकोटसे लेपु-लेक पार होते ही भारतकी सीमा आती।

तकलाकोट पहुँचते ही सिपाही उन्हें तिब्बती अफ़सरके पास ले गये। उसने पूछना शुरू किया—कौन से रास्ते आये? राहदानी कहाँ है? इतने दिनों कहाँ रहे? सूचना क्यों नहीं दी? वहाँ क्या करते रहे? इत्यादि जवाब-सवाल करके उसने साधु समझ छोड़ दिया।

लेपु-लेक (डाँडा) तकलाकोटसे १५ मील ही है। मानसरोवर १४,९०० फुट और तकलाकोट १३,१०० फुटपर है। लेपु-लेक (१६,७५० फुट) से उतराई उतर कर ११ मीलपर काला पानी (१२,००० फुट) मिला। लेकिन बस्ती गरब्यांग (१०,३२० फुट) पाँच मील और नीचे थी। उसी दिन शामको वह गरब्यांग पहुँच गये। सातों सन्तोंकी जानमें जान आई। गरब्यांग बहुत बड़ा गाँव है। तिब्बतके साथ व्यापार करनेके कारण यहाँके बहुत से लोग धनी व्यापारी हो गये हैं। किसी समय वह शुद्ध बौद्ध रहे होंगे, लेकिन अब सभी ठाकुर हैं, और साधुओंकी अच्छी सेवा करते हैं। ऐसे साधुओंकी विशेषकर जो कि मानसरोवरमें सारा जाड़ा बिता कर आये थे सन्तोंका बड़ा सत्कार किया गया। बिहारी बाबाने फिर अपना पहला वैष्णव चोला धारण कर लिया। लक्कड़ लगा कर धूनी रमाई, और गाँजेकी चिलमसे दिल और दिमागको गरम किया। धौम्यने तो मैदानमें उतर कर शरीरके मैलको धोनेकी जरूरत समझी। बिहारी बाबा और उनके साथियोंने यहीं लामा मठके सारे पापोंका प्रायश्चित कर डालनेका निश्चय किया। गरब्यांगमें दो दिन ठहर कर वह नीचेकी ओर चल पड़े। चौथे दिन काली (शारदा) नदीके तटपर

जौलजीवी पहुँच गये । २,१०० फुट होनेके कारण यह गरम जगह थी । मालूम होता था, जैसे देहरादून आ गये हैं । उन्हें अलमोड़ा जाना था । सात मील आगे अस्कोटमें वह पाँच हजार फुटपर पहुँच गये । सातों सन्त मैदानी थे । अभी वह पहाड़ी इलाकेमें थे, तो भी यहाँ उन्हें देश-सा मालूम होता था । अपने जैसे रंग-रूपवाले लोग थे, बोली-वाणी भी अपनी-सी ही थी । वनस्पतिकी दरिद्रता खतम हो गई थी । आठ-दस महीने तक हरियाली देखनेके लिए उनकी आँखें तरसती रहीं । खाना-पीना अपनी रुचिका मिल रहा था । अस्कोटसे अलमोड़ा और वहाँसे रानीखेत होते वह हलद्वानी पहुँचे । वर्षा आरम्भ हो गई थी । प्रायः साल भर साथ रहकर और अब सालोंके लिए एक दूसरेसे बिछुड़ने वाले थे, जिसका दुःख उन्हें होना ही चाहिए था । सबसे पहले बिहारी बाबा और सुन्दर-दास अपने देशकी ओर रवाना हुए । बिजनौरमें मध्यप्रदेशी बाबा भी अलग हो गये, फिर दूसरोंने भी अपना-अपना रास्ता लिया । हरिशरण बाबाको कोई मठ बुला नहीं रहा था, न कोई स्नेही-सम्बन्धी अपनी ओर खींच रहा था । रसायनका आकर्षण था, लेकिन सद्गुरु प्रसादसे वह उसके बारेमें हताश हो चुके थे । योगके चक्करसे अब भी बाहर नहीं आये थे । तिब्बतकी यात्रामें उन्होंने घुमक्कड़ी और सधुक्कड़ी तक ही अपनेको सीमित नहीं रक्खा था । बाबा गोपालदाससे उन्हें जड़ी-बूटियों-की महिमा मालूम हो गई थी और कुछसे परिचय भी था । इस यात्रामें उन्होंने शृंगिक विष, निर्विषा, चौटक, ग्रंथपर्णी, अतीस आदि तीस-चालीस औषधियोंका परिचय व्यापारियोंसे प्राप्त किया ।

हरद्वार—कहाँ जाना चाहिये, इसके लिए बहुत माथापच्ची करनेकी जरूरत नहीं थी । आखिर हरद्वार, ऋषिकेश, लक्ष्मणझूला उनके लिए सुपरिचित हो गये थे । वह जेठके मध्यमें हरद्वारमें पहुँचे । निहालचन्दकी बगीचीमें छ-सात दिन सोचते-विचारते रहे । पर किसी निश्चयपर नहीं पहुँच सके । एक दिन बड़ी रात रहते ही, ऋषिकेशकी ओर चल पड़े । समयका अंदाजा लगानेमें उन्होंने गलती की । दो बजे रातको आँख खुली, और उठ खड़े हुए । भूपतवाला और खड़खड़ी होकर सड़कके रास्ते चल

रहे थे। भूपतवालासे आध मील आगे बढ़े। सड़कके दाहिनी ओर एक बगीचा आया। उसके अन्दर दौड़ने और धम-धम कूदनेकी आवाज सुनाई दी। फिर कोई चीख मारकर भागता मालूम पड़ा। अँधेरी रात थी। कहीं कुछ नहीं दिखाई देता था। कुछ डर तो लगा, लेकिन सब कुछ बगीचेके अन्दर हो रहा था। वह डरते-डरते इधर-उधर निगाह दौड़ाते सड़क पर आगे बढ़ते गये। बगीचेके आधेमें पहुँचनेपर दरख्तसे किसीके कूदनेकी आवाज कानमें पड़ी। यह भी मालूम हुआ, कि किसीने वृक्षको पकड़कर जोरसे हिला दिया, फिर धमसे कूदकर चीखता हुआ कोई भागा। पत्तोंकी खड़खड़ाहट साफ सुनाई दे रही थी। हरिबाबा बहुत डर गये, पैर मन-मन भरके हो गये, शरीरसे पसीना छूटने लगा। आस-पास कोई बस्ती नहीं थी, और न उस समय किसी आदमीके मिलनेकी सम्भावना थी। दूर खेतोंमें मचानोंपर लालटेन वाले आदमी जानवरोंसे खेतीकी रखवाली करते हला-हला कर रहे थे। इस आवाजके सिवा और सुनाई नहीं देता था। बगीचेकी ओर नजर डालनेकी हिम्मत नहीं हो रही थी, तो भी वह उधर बरबस जाती थी। डर लग रहा था, कहीं कोई ऊपर न टूट पड़े। बड़ी मुश्किलसे उन्होंने बगीचेकी सीमा पार की। बागके छोरसे फिर किसीके दौड़ने और चीखनेकी आवाज सुनाई दी। पीछेकी तरफ भी उसके भागनेकी आवाज थी। हरिबाबा भूत-प्रेतोंकी बात बहुत सुन चुके थे। अभी तक ऐसा गुरु नहीं मिला था, जो इन परसे उनके विश्वासको हटाता। बगीचेसे बाहर निकल आने-पर यह देखकर उनकी हिम्मत बँधी, कि धम्-धम् करके चीखने-चिल्लाने वाली बला बगीचेके भीतर ही रहना चाहती है। वह तेजीसे कदम आगे बढ़ाने लगे।

डेढ़ मील और गये। अब सड़क बाँसोंके घने जंगलके भीतरसे जा रही थी। अब भी काफी रात थी, और पौ फटनेकी कहीं सूरत नहीं दिखलाई पड़ रही थी। जंगलके भीतर थोड़ा ही घुसे थे, कि बाँसोंके तड़-तड़ टूटनेकी आवाज आने लगी। एक बलासे पिण्ड छुड़ा कर यहाँ पहुँचे थे, और दूसरी बला आती दिखलाई पड़ी। समझ नहीं पाये, सोच

ही रहे थे, कि इतने हीमें एक हाथी सड़कसे होकर दूसरी तरफ चला गया। उसे देखते ही हरिबाबाके होश गुम हो गये। डरके मारे अधमरे हो गये। उनके मुँहसे चीख निकल गई। हाथीने आदमीकी चीख सुनी, तो वह भी डर कर जंगलमें भागा। वह खास तौरसे चिंघाड़ता भाग रहा था, जिसे सुनकर जंगलके भीतरके दूसरे हाथी भी चारा खाना छोड़ कर भाग खड़े हुए। उनमें कुछ तो हरिबाबाके कुछ ही हाथ दूरसे गुजरे। बाबाके बारेमें क्या पूछना है? वह तो जीवनसे आशा छोड़ चुके थे। कुछ ही मिनटोंमें हाथी जंगलसे हवा हो गये, चारों ओर नीरवता छा गई। हरिबाबा कुछ देर तक पत्थरकी मूर्ति बने खड़े रहे। फिर उस जंगलको पार करनेके सिवा कोई चारा नहीं था। वह धीरे-धीरे आगे बढ़े।

बड़ी बुरी साइतको उन्होंने हरद्वारसे यात्रा शुरू की थी। बाँसोंके जंगलके बाद शालका जंगल आया। उसे पार करके सत्यनारायण मन्दिरके पास गये। वहाँ छोटी नदीका पुल था, वहाँ पहुँचे। पौ फटने-वाली थी, पूर्व ओर आसमानका रंग भी बदल रहा था। पुलपर आधी दूर नहीं गये थे, कि दूर सड़कके ऊपर दो चमकती आँखें दिखाई दीं, और सड़े मांसकी दुर्गन्ध नाकमें आने लगी। शरीर सिहर गया। साहस करके खाँसने लगे। आदमीके खाँसनेकी आवाज सुनकर जानवर बाघ था—उठा, अँगड़ाई ले गुर्राने लगा। हरिबाबाके प्राण सूख गये। काटो तो शरीरमें खून नहीं। पर, बनराजने कृपा की, गुर्राता हुआ वह पासके नालेमें उतर गया। हरिबाबा १५ मिनट तक वहीं खड़े रहे। कुछ और प्रकाश हो गया, तब वह आगे बढ़े। सत्यनारायण होकर ऋषिकेश पहुँच गये।

अध्याय ६

योगाभ्यास (१९१०-१२ ई०)

वर्ष २३

वैरागी साधु बहुत छूतछात मानते हैं। वह किसीके हाथका भोजन नहीं करते। जब तक सद्‌गुरुजी नहीं मिले थे, तब तक हरिदास भी वैरागियोंके छूतछातको मानते थे। उन्होंने देखा, वैष्णव होते हुए भी उनके गुरु अपने भक्तोंके घर कच्ची रसोई खा लेते हैं। वह यह भी कहते थे, कि कच्ची-पक्कीके छूत माननेकी क्या आवश्यकता? शुद्धतासे जो भी भोजन बने उसे खानेमें दोष नहीं।

वैष्णवदासके साथ हरि बाबा पेशावर भी इस बीच गये थे। वस्तुतः इस समय उनका चक्कर इतना लगता रहा, कि काल और स्थानकी याद नहीं रही। वहाँ भी वह गृहस्थोंके घरमें कच्ची रसोई खा आये थे। वैष्णवदासने भी बतलाया, कि यह कच्ची-पक्कीका ढोंग साधुओंमें ही हम रखते हैं, बाहर खा लेते हैं। हरि बाबाने तो मानसरोवरमें जाकर छूआछूतके मुर्देको भी बहा दिया था, इसलिए दिलमें उसके लिए कोई ख्याल नहीं था, बाहर से लोक-लाज तो करनी ही पड़ती थी। यहाँ ऋषिकेशमें संन्यासी, उदासी सभी छूतछात नहीं मानते थे। शिक्षा-संस्कृतिमें पिछड़ा और इस छूतछातका ख्याल कर वैरागियोंको दूसरे साधु पास बिठाना भी नहीं पसन्द करते थे। हरि बाबा कोई रास्ता निकालना चाहते थे। उन्होंने कण्ठी तो पहले ही गंगामें बहा दी थी, अब उन्होंने सद्‌गुरुकी तरह अपने कपड़े पीले रंग लिये और नाम तो हरि-शरण था ही रास्ता साफ हो गया, दूसरे सन्तोंकी तरह वह भी काली-

कमलीवाले क्षेत्रसे मधुकरी ला कर गंगाके किनारे खा लेते और फिर सारे दिन निश्चिन्त हो संन्यासियों और उदासियोंकी मण्डलीमें शामिल हो जाते। पूछनेपर बतला देते, मैं स्वामी सद्गुरुप्रसादका चेला हूँ। "कौन साधु हो" का जवाब था योग सम्प्रदायी। और पूछनेपर कहते— "यह योगका एक नया सम्प्रदाय निकला है, जिसके आचार्य हमारे श्री सद्गुरुप्रसाद शरण हैं।"

हरि बाबाने मुनिकीरेतीमें एक साधुसे परिचय करके उसके पास अब अपना आसन जमाया। संन्यासी-उदासी साधु "योग-वासिष्ठ" पढ़ते हैं। वैरागियोंमें रामायणका जिस तरह प्रचार है, वैसे ही यहाँ विचारसागरका था। योगकी चर्चा भी उनमें थी, और कोई-कोई योगके ग्रंथोंको समझते थे। उनके पास रह कर उन्होंने "हठयोग प्रदीपिका", "षट्चक्र निरूपण" आदि दो-तीन ग्रंथ पढ़े। उनके पढ़नेसे यही मालूम हुआ, कि इनकी प्रक्रिया "योगदर्शन" से भिन्न है। योगियोंके पीछे तो पड़े ही थे, इस-लिए हमेशा पूछा करते थे। एक साधुने बतलाया, "कैलास-आश्रमसे ऊपर जंगलमें दूर एक महात्मा स्वामी सत्यानन्द रहते हैं। यदि योगके सम्बन्धमें कुछ जानना है, तो उनसे मिलो।" वह १२ बजेके करीब सिन्ध-पंजाब-क्षेत्रके सामने सड़कपर आकर खड़े हो जाते हैं। लंगरवाले वहीं उन्हें दो मधुकरी दे देते हैं, और वह खड़े-खड़े खाकर वहाँसे लौट जाते हैं। उनके पीछे-पीछे जानेपर उनके निवासस्थानका तुम्हें पता लग जायगा।"

स्वामी सत्यानन्द—बाबा हरिशरण पंजाबी क्षेत्रके सामने जाकर इन्तजार करने लगे। स्वामी सत्यानन्द ठीक दोपहरको वहाँ आये। मधुकरीको खड़े-खड़े उन्होंने खा प्यावपर जाकर पानी पी लिया। फिर वह जंगलकी तरफ चल पड़े। हरि बाबा उनके पीछे-पीछे थे। कैलास आश्रम काफी दूर जंगलमें एक काम्पिल वृक्षके नीचे वह जाकर बैठे। उनसे काफी दूर एक वृक्षके नीचे हरिशरण भी बैठ गये और उनकी गति-विधि देखने लगे। स्वामी ५ बजे तक एक आसनसे उसी वृक्षके नीचे बैठे रहे। फिर उठ कर पासकी एक टूटी झोपड़ीमें चले गये।

हरिशरण लौट आये। अब रोज दोपहरको वह उसी तरह स्वामीके पीछे-पीछे जाते, और दूर वृक्षके नीचे बैठ जाते। दो-तीन बार वह सबेरेके वक्त भी वहाँ गये, देखा योगी अपनी कुटियाके भीतर पद्मासन बैठे हैं। सर्दीके चारों माहीने वह इसी तरह उनका पीछा करते रहे। सिर्फ यही देखते रहे, कि वह क्या करते हैं। न हरि बाबने उनसे कुछ पूछा, और न स्वामीने ही उन्हें बुलाया। यह जंगल ऐसा नहीं था, जिसमें बड़े जानवर हों। हाथी इधर आते ही नहीं थे। जंगली सुअरोंसे आदमीको भय नहीं था। इस प्रकार वह स्थान श्वापदोंसे निर्मुक्त था। भोजन करके लौटनेपर वह कभी-कभी ध्यान लगानेकी जगह कुटियामें या उसी वृक्षके नीचे लेट जाते। उनके पास एक कम्बलकी अलफी थी। कुटियाके भीतर पराककी बिछौना और उसीका सिरहाना था। एक कोनेमें पानीकी हँड़िया रक्खी थी। सिरहाने एक फटी गूदड़ी भी पड़ी हुई थी। वहाँ और कुछ नहीं था। वह बड़े त्यागी थे, यह तो यहाँकी बेसरोसामानीके देखनेसे ही मालूम होता था। इन चार महीनोंमें हरि बाबाने उन्हें किसीसे बोलते नहीं देखा। कभी-कभी वह जंगलमें कुछ घूमने जाया करते थे, नहीं तो डटकर एक आसनपर बैठना ही उनका काम था। सर्दी बढ़नेपर वह कुटियामें बैठते। वह कबसे इस स्थानमें रह रहे थे, इसे जाननेका हरि बाबाको कोई साधन नहीं मिला। उनकी आयु ५०से ऊपर थी। आधे बाल सफेद हो गये थे। बकरदाढ़ी थी। सिरके बाल बहुत लम्बे नहीं थे, जिन्हें वह खुले रखते थे। आसपास न कोई झरना था, और न जलकी धारा। कभी-कभी वह अपनी हँड़ियाको गंगासे भर लाया करते थे। वह कब और कहाँ स्नान करते हैं, शौच आदि कब करते हैं, इसे देखनेका हरि बाबाको मौका नहीं मिला। हरि बाबाने योगदर्शनको पढ़ा था, और अब वह एक योगीको देख रहे थे। वह समझने लगे, कि वह अपनी वृत्तियोंको एकाग्र करनेमें लगे हैं। चित्तकी वृत्तियोंके निरोध करनेका यही मार्ग है। जब तक आदमी लोगोंसे मिलता-जुलता रहता है, तब तक उसके मनमें संकल्प-विकल्प अधिक उठते रहते हैं।

एक दिन भोजन कर लेनेके बाद स्वामी उसी कम्पिल वृक्षके नीचे थोड़ी देर बैठे। हरि बाबा भी थोड़ी दूर पर एक वृक्षके नीचे बैठे थे। महात्मा उस दिन उठ कर उनके पास चले आये, और बोले—"आप यहाँ रोज क्यों आकर बैठा करते हैं? यहाँ आनेका प्रयोजन क्या है ?" हरि बाबा मन ही मन बड़े प्रसन्न हुए। आखिर चार महीने बाद उन बन्द ओठोंसे दो अक्षर तो सुननेका मौका मिला। वह बड़े भक्ति भावसे हाथ जोड़ कर उठ खड़े हुए और बोले—"महाराज, मैं कुछ जिज्ञासा रख कर यहाँ आता हूँ, और वह जिज्ञासा है योगकी शिक्षा।" महात्मा बोले—"यदि कुछ जानना और इस मार्गपर चलना चाहते हो, तो पहली बात तो यह करना, कि किसीसे न कहना कि सत्यानन्दने हमसे बात की, और न किसीको कभी अपने साथ लाना। योग-मार्गपर चलनेवालेको किसीसे मिलनेकी न जरूरत होती है, न मिलना अच्छा है। यह उसके कार्यमें सबसे बड़ी बाधा है।" उन्होंने यह भी बतलाया, कि रोज मत आना इससे हमारी क्रियामें बाधा होगी और जब आओ, तो दस-पाँच मिनटके लिये। उसी समय मैं कुछ बता सकूँगा।

इसके बाद हरि बाबाने ऐसा ही किया। स्वामी सत्यानन्दजीके पूछने पर हरि बाबाने बतलाया, कि मैंने "योगदर्शन"को अच्छी तरह पढ़ा है। फिर योगिराजने कहा—अब तुम अपने मनकी वृत्तियोंकी ओर देखो। वह कैसे उठती हैं, कैसे एक विषयसे दूसरे विषयपर आरूढ़ होती हैं। फिर उन्हें इधर-उधर जानेसे रोको। वृत्तियोंको रोकना ही मनको रोकना है। वृत्तियोंको रोककर मनको आज्ञाकारी बनाओ। मनको आत्मामें तल्लीन कर दो। मन अखण्ड हो जाये, संकल्प-विकल्प रहित हो जाये, यही योग-साधन है। इसकी शिक्षा किसीसे लेनेकी जरूरत नहीं, यह तो अपने करनेका काम है। उसमें सिखलानेकी भी कोई बात नहीं है। स्वतः उठते हुए अपने संकल्प-विकल्पको देखो और उसको उठने न दो। अपने ही विचार करो, कि किस कारणसे कौन-सा संकल्प उठता है, उस कारण से बचो। अपने ही समझो और अपने ही मनको एकाग्र करो। किसीके पास आने-जाने या समझनेकी जरूरत नहीं है। अभ्यास करते तुम्हें अपने ही

रास्ता मिल जायेगा। हमारे पास भी आनेकी जरूरत नहीं होगी। यदि योगाभ्यास करना चाहते हो, तो ऐसे एकान्त स्थानमें चले जाओ, जहाँ न तुमसे कोई मिले, और न तुम किसीसे मिलो। शरीर-यात्राके लिए दो रोटियोंकी तो जरूरत होगी ही। मैं भी इसीलिए क्षेत्रमें जाता हूँ। बस वैसा ही कोई साधन ढूँढ़ लो, और पूरे तितिक्षु बन कर कहीं एकान्तमें जा क्रियामें लग जाओ। यह रास्ता किसीके दिखाये नहीं देखा जाता, अपने ही करनेसे दिखलाई पड़ता है। जो योगदर्शन तुमने पढ़ा है, वही मैंने भी पढ़ा है। दूसरा भी उसीकी बातें बतलायेगा। अब पढ़ना और सीखना-समझना नहीं है, बल्कि उसपर चलना है। 'स्वामी सत्यानन्दने बातें बतलाई, और हरि बाबाको उनपर पूरा विश्वास हो गया। वस्तुतः वह इतने अकृत्रिम रूपसे उनके मुँहसे निकली थीं, उनमें इतनी सहृदयता थी, कि हरि बाबाका मन संतुष्ट हुए बिना नहीं रह सकता था।

कोयलघाटीकी कुटिया—स्वामी सत्यानन्दजीकी बातोंसे हरि बाबाकी आँखें खुल गईं। वह समझने लगे, मैं व्यर्थ ही इधर-उधर भटक रहा था। योगदर्शनमें ये बातें दी हुई हैं। अब वह एकान्त स्थान ढूँढ़नेकी फिकरमें पड़े। स्थान भी ऐसा हो, कि खाने-पीनेका प्रबन्ध आसानीसे किया जा सके। कई दिन सोचनेके बाद उन्हें मालूम हुआ, कि ऋषिकेशके पास हीमें कहीं रहना अच्छा होगा, क्योंकि यहाँ आकर भिक्षा कर सकता हूँ। आसपास जगहें तलाश करने लगे। उस समय कोयलघाटीमें जंगल था। यह स्थान ऋषिकेशसे एक मील नीचे गंगाके किनारे पड़ता था। भूमि भरत मन्दिरके महन्तजीकी थी। यहाँ थोड़े ही दिन पहले एक बंगाली स्वामी कृष्णानन्द (बी० ए०) झोपड़ी बनाकर रह रहे थे। वह हठयोगी थे। उनसे बातचीत करने पर मालूम हुआ, कि भरत मन्दिरके महन्तसे मैंने जगह ली है। हरि बाबाने सोचा, यहीं मैं भी अपने लिए कुटिया बना लूँ। महन्त परशुरामदाससे कहनेपर उन्होंने बड़ी खुशीसे जगह दे दी। एक आदमीको और लेकर उन्होंने फूसकी झोपड़ी बना ली। बिच्छुओंकी बहुतायत थी। एक दिन फूससे निकल कर बिच्छूने हरिबाबा के पैरमें डंक मारा। शरीरमें आग लग गई और दर्दकी लहर

बड़ी तेजीसे ऊपर चढ़ने लगी। यहाँके बिच्छू बड़े विषैले होते हैं। बाबा-की झोलीमें संखियेकी डली पड़ी हुई थी। उन्होंने चट उसे पानीमें घिस कर लेप कर दिया। दस मिनटमें ही दर्द बिल्कुल दूर हो गया।

१९१० ई० के वैसाखका महीना था। झोपड़ी बन गई। दोनों ही योगी अपनी-अपनी कुटियामें अभ्यास करने लगे थे। कृष्णानन्द नेती-धोती करते और हरि बाबा योगदर्शनकी प्रक्रियासे चित्त-वृत्तियोंपर अंकुश रखनेका अभ्यास करते। उसके लिए वह अत्र ओम्का उच्चारण या दोनों भौहोंके बीचकी त्रिकुटि में दृष्टिको लगा कर साधना करते थे। शामको स्वामी कृष्णानन्दसे ज्ञान-गोष्ठी होती। उसी समय हरिबाबाने उनसे नेती-धोती करनी भी सीखी। महीने-डेढ़ महीनेमें गुदाके द्वारा उदरमें पानी खींचनेमें समर्थ हो गये। इसके लिए पेटकी दो पेशियोंको खड़ा करके नलके रूपमें घुमाना पड़ता है। अभ्यास करनेसे वह दोनों तन कर खड़ी हो जाती हैं, और उनके तनाव तथा संकोच-विकाससे आतें धीरे-धीरे पानी खींचने लग जाती हैं। नेतीमें डेढ़ हाथ की बत्ती नाक से डालकर मुँहसे निकाल कर सफाई करनी पड़ती है। पहले बत्ती नाकमें डालनेसे छींक आती है, लेकिन कुछ ही दिनोंमें नाक बत्तीके स्पर्शको सहन करने लगती है। गलेमें बत्तीके पहुँच जानेपर खाँसनेसे साँसकी हवाके साथ वह मुँहमें निकल आती है। इन दोनों सिरोंको पकड़ कर धीरे-धीरे फिराना पड़ता है। त्रिकुटीमें दृष्टि लगा कर लगातार देखनेको त्राटक कहते हैं। हठयोगकी क्रियाओंको करके हरि बाबाको पता लगा, कि ये क्रियायें उन आदमियोंके लिए आवश्यक हैं, जिनका शरीर शुद्ध नहीं होता, या शरीरमें कोई रोग होता है। शरीरके भीतरको शुद्ध रखनेसे मनके एकाग्र करनेका कोई सम्बन्ध नहीं है। जो आदमी मिताहारी है, और भोजन ही इतना ग्रहण करता है, जिससे न पेट पर भार पड़े, न आलस आये, और जिसका शरीर निरोग है, उसे इन क्रियाओंके करनेकी जरूरत नहीं। हरि बाबाको लोगोंपर इसका प्रभाव डालना नहीं था, इसलिए ये उनके लिए महत्व नहीं रखती थीं।

धीरे-धीरे कोयलघाटीकी कुटियामें रहते उन्हें पाँच महीने हो गये। इतने दिनोंके अभ्यासके चित्त-वृत्तियोंको रोकनेमें कोई सफलता नहीं हुई।

इसका कारण एक तो यह था कि वहाँ कोई न कोई आदमी पहुँच जाता था। हठयोगी की क्रियाओंको सीखनेकी ओर मन लग जानेसे भी बहुत से संकल्प-विकल्प उठा करते थे। मन एकाग्र करनेके लिए कुछ समय रातको या सबेरे मिलता था। जितनी देर वह मनको स्थिर करनेके की कोशिश करते, उससे अधिक समय दिनमें उनका उससे चलायमान करनेमें लग जाता। सुभीता जरूर था। वहाँसे ऋषिकेश जा क्षेत्रसे दो मधुकरी माँग लाते थे। इस प्रकार खानेसे निश्चिन्त थे। अपने इस पाँच महीनेके अभ्याससे वह सन्तुष्ट नहीं थे। इसी समय सद्‌गुरुजी घूमते-फिरते लक्ष्मणझूला पहुँचे। पता लगा, हरि कुटिया बना कर कोयलघाटीमें योग साध रहे हैं। लक्ष्मणझूलामें कुछ समय रह कर जब वह नीचे जाने लगे, तो हरि बाबाकी कुटियामें भी पहुँचे। रात वहीं बिताई। सबेरे बोले, चलो हमारे साथ हरद्वार तक। हरि बाबाको आशा हुई, क्या जाने गुरु बाबा कुछ विशेष कृपा करें। उनके साथ वह हरद्वार चले गये।

जलप्रलय—१९१० के सितम्बरका शायद अन्तिम सप्ताह था। सद्‌गुरु बाबाने उनसे बातें पूछीं और उन्होंने अभ्यासकी सारी बातें बतलाईं। गुरु महराज कहने लगे—हमारे साथ लखनऊ चलो। किन्तु हरि बाबा उनके साथ घूम चुके थे। उससे उनको कोई फायदा नहीं होनेवाला था। उनका घूमनेकी ओर मन भी नहीं था। वह समझते थे, जिस योगके लिए मैंने वैराग लिया, उसे पूरा करना होगा। उन्होंने जानेसे इंकार कर दिया। शामको घूमते-फिरते गंगाके घाटपर पहुँचे, तो देखा कि पानी चढ़ रहा है। वह गंगाके बीचके प्लेटफार्मसे पौड़ियोंपर आ पहुँचे। देखा, पानी प्लेटफार्मके ऊपर आ गया। यह अचरजकी बात थी। आसमानमें न कहीं बादल था, न एक भी बूँद पड़ रही थी। यह गंगामें बाढ़ कैसी? समय शामके पाँच बजेका था। सोचने लगे, यदि पानी आ गया है, तो निहालचन्दकी बगीचीमें भी जरूर पानी घुस आया होगा। वहीं उन्होंने अपना डण्ड-कमण्डल रक्खा था। दौड़े बगीचीकी ओर। भीमगोड़ामें पहुँचते-पहुँचते देखा, ऋषिकेश-की सड़कपर घुटने भर पानी बड़े वेगसे बह रहा है। चार-पाँच आदमी

हाथ पकड़ एक दूसरेका सहारा लेते धारा चीर कर बड़ी मुश्किलसे कोठीके अन्दर पहुँचे। पानी बड़ी तेजीसे बढ़ता जा रहा था। देखते-देखते पानी सारी बगीचीमें फैल गया। अब सड़कपर धारा इतनी तेज हो गई, कि उसका पार करना आसान काम नहीं था। कुछ देरमें पानीने बगीचीके भीतरकी कोठीको चारों ओरसे घेर लिया। वह बढ़ता ही जा रहा था। आसपासके चालीसके करीब नर-नारी कोठीकी छतपर शरण लेने आ पहुँचे।

कोठीकी पिछली तरफ एक गोशाला थी, जिसमें ३०-४० गौवें बँधी हुई थीं। गोशाला के आदमियोंने जब पानीको भीतर आते देखा, तो अपना बोरिया-बँधना बाँध कर कोठीके भीतर आ घुसे। आते समय उन्होंने गौशालाका फाटक भी बन्द कर दिया। घन्टा भर भी नहीं बीता था, कि कोठीके भीतर पानी घुस आया। गौशालाकी जगह तो कोठीसे भी नीची थी। छतपरसे देखा, गौओंके गले-गले तक पानी पहुँच गया है, बछड़े डूब रहे हैं। गौएँ रंभा रही हैं। सब लोग इस करुण दृश्यको देख रहे थे, लेकिन किसीको गौशालामें जाकर गौओंके खोलनेका साहस नहीं हुआ। वह बड़ी बुरी तरहसे तड़फड़ा रही थीं। उनके गलेमें यदि रस्सा बँधा न होता, तो वह तो तैर कर किसी ओर लग जातीं। हिन्दू उन्हें वैतरणी पार करनेमें सहायक बनाते थे। अब तो जान पड़ता था, वह अपने ही इस प्रलयपयोधिमें डूबनेवाली हैं। उनही चिल्लाहट जमीन-आसमानको एक करने लगी। हरि बाबा और देर तक चुपचाप उस गुहारको सुननेके लिए तैयार नहीं हो सके। कमरमें रस्सी बाँध कर वह गंगाकी धारमें कूद पड़े। धाराका वेग गोशालाकी दीवारसे टकरा रहा था। हाथ मारते गोशालाकी दीवारपर चढ़ गये। उनके साहसको देखकर दो और आदमी साथ देनेके लिए कूद पड़े। गोशालाके भीतर आदमीके डूब जाने भर पानी था। गौओंके पास पहुँचना आसान काम नहीं था। इस समय हरि बाबाकी बचपनकी तैराकीने काम दिया। गौओंके पास जाकर बड़ी मुश्किलसे उन्होंने रस्सियोंको काटा, और फाटकको खोल दिया। गाएँ मुक्त होकर धारामें बह चलीं। लम्बी-चौड़ी दुनियामें न जाने

कहाँ उन्होंने शरणस्थान पाया होगा। रस्सी कोठीसे बँधी हुई थी उसीके सहारे धाराको चीरते एक-एक करके सारे आदमी कोठीकी छतपर चले गये।

रातके आठ बजने लगे थे। पानी बढ़ता ही जा रहा था। कोठी गंगाकी बीच धारामें थी। उसकी दोनों तरफ गंगा जोरसे टकरा रही थी, मानो अपने दोनों बाहोंमें पकड़ कर उसे अपने साथ ले जाना चाहती थी। कुछ देर बाद कोठी एक ओर कुछ नीचे धँसी। लोगोंमें घबराहट फैल गई। रातका अन्धेरा था। ठीक तरहसे कुछ दिखाई भी नहीं पड़ता था। उनकी नैया मझधारमें डगमग-डगमग कर रही थी। लोगोंकी हालत बुरी थी। हजारों बार लोग चिल्ला कर थक गये। लेकिन, वहाँ कौन सुननेवाला था? महा प्रलय केवल निहालचन्दकी बगीचीके लिए थोड़े ही आई थी? हरि बाबाकी तरह दूसरे आदमियोंमें भी कुछ तैरना जानते थे, लेकिन अँधेरी रातमें तैर कर कहाँ पहुँचेंगे, इसका भी तो ठिकाना नहीं था। लोग अपने प्रियजनोंके साथ सिमट कर छतपर जहाँ सुरक्षित स्थान समझते, वहाँ जमा हो गये थे। उनमें कोई नास्तिक नहीं था, यह उनके लिए अच्छी ही बात थी। चारों ओर 'हे राम, हे राम' ही सुनाई देता था। यह अखण्ड रामधुन बराबर चलती रही—रामधुन वैरागियोंका बनाया शब्द है, जिसे गान्धीवादियोंने दखल कर लिया, और अब रेडियोपर भी वह धुन घंटों चलती है। लेकिन, रामधुनमें "रघुपति राघव सीता राम..." का पेटेन्ट मन्त्र नहीं चलता था। छोटेसे बड़े तक सभी रात भर उसी रामधुनमें लगे रहे। नींद कहाँसे आती, जब कि मृत्यु सिरपर मँडरा रही थी। वह रात हजार सालके बराबर थी। एक-एक सेकेण्ड कटनेमें एक-एक महीना बीतता मालूम होता था। पर, आखिर उसे कटना तो था ही। पौ फटी। लोग चारों ओर आँखें फाड़-फाड़ कर देखने लगे, कि कोई आदमी नजर आवे और उससे सहायताकी याचना करें। कोठीका काफी हिस्सा कट कर गंगामाताको समर्पित हो चुका था। एक लम्बे बाँससे देखनेपर पानीका थाह नहीं लग रहा था। किसी समय भी सारी कोठी बैठ जानेके लिए तैयार थी। बैठती तो क्या, सीधे थोड़े ही बैठती। उसके

चीथड़े-चीथड़े उड़ जाते। पानीका प्रहार इतना जबर्दस्त था। जब आसमानपर कुछ और लाली दौड़ी, तो रेलकी पटरीपर गादमी नजर आने लगे। कोठीकी छतपरसे लोग हल्ला मचाने लगे—" 'निकालो, बचाओ, कोठी कट गई है।" सड़कपर पानीकी धारा कुछ कम हो गई थी, पर अब भी वेग इतना था, कि कोई उसको पार करनेकी हिम्मत नहीं कर सकता था। लोगोंने महन्तजीको खबर दी। उनका हाथी आया, और उसपर चढ़ाकर छतपरके लोग धाराके उसपार पहुँचाये गये।

यह निरभ्र बाढ़ कहाँसे आई? उस वक्त तो लोग इसे भगवान्‌की माया समझते थे। इसके लिए निम्न अवतरण "गढ़वाल" पृष्ठ ३२३ पढ़िए—

"गोहना (गोणा) गढ़वालके मल्ला दसोली पट्टीमें बिरहीगंगाके किनारे गाँव है। १८९३ के सितम्बरमें एक भयंकर भूपात हुआ, जिससे धाराके ऊपर २००० फुट चौड़ा और ९०० फुट ऊँचा बाँध बन गया, और पानी बिल्कुल रुक गया। पहिले पटवारीकी रिपोर्टको मामूली भूपात समझा गया। इंजीनियर पुलफोर्डने हिसाब लगा कर बाँधके टूटने तथा बाढ़ आनेके बारेमें पहिले ही सूचना दी, जो ठीक उतरी। लोगोंका विश्वास है, कि डाइनामाइटसे तोड़ कर भविष्यद्वाणी सच्ची कराई गई। पहिलेसे ही गोहना, चमोली, नन्दप्रयाग, कर्णप्रयाग, रुद्रप्रयाग, श्रीनगर, बाह, व्यासघाट, ऋषिकेश और हरद्वारमें सावधानी कर दी गई थी। १८९४ के अगस्तके मध्यमें बाँध टूटनेका समय बतलाया गया था। २४ अगस्तको सूचना दी गई, कि ४८ घन्टेके भीतर बाढ़ आयेगी। २५ अगस्तके सबेरे पानी जरा-जरा ऊपरसे चूने लगा, धार बढ़ती गई और आधी रातको भारी आवाजके साथ बाँधका ऊपरी भाग गिर पड़ा। पानी जोरसे बह चला। २६ अगस्तके सबेरे तक १ अरब घनफुट पानी निकल गया और गोहनाताल ३९० फुट नीचे उतर गया। प्राणहानिमें एक परिवार मरा, जिसने हटाये जानेपर भी जाकर खतरेकी जगहमें डेरा डाल दिया था, सो भी बाढ़से नहीं, बल्कि एक रक्षात्मक रोक-थामके गिरनेसे। सम्पत्तिकी अपार हानि हुई। श्री-नगरका पुराना नगर अपने पुरातात्विक चिन्होंके साथ बह गया।"

१६ वर्ष पहले गोहनाने उस महाप्रलयका दृश्य हरद्वारमें भी दिखलाया होगा। पर, उस समय तो पाँच वर्षके हरि बाबा हरिश्चन्द्रके रूपमें कानपुरमें बाललीला करते होंगे। अब २ अक्तूबर १९१० को गोहनाने दूसरी बार अपना चमत्कार दिखलाया। उस दिन सबेरे झीलको रोकनेवाली कुछ चट्टानें खिसक गईं। रुके हुए पानीका रास्ता खुल गया और फिर वह प्रलय मचाती नीचेकी ओर चल पड़ी। यह छोटी-मोटी बाढ़ नहीं थी, बल्कि यदि खुलकर देखा गया होता, तो मालूम होता पानी की एक ऊँची दीवार पहाड़की ओरसे बढ़ती चली आ रही है। १६ वर्ष पहलेकी बाढ़के लिए तो पहले हीसे लोगोंको सजग कर दिया गया था। यहाँ तक कि स्थानोंपर निशान भी लगा दिये गये थे, कि पानी यहाँ तक पहुँचेगा। इस समय तो वह भी नहीं हुआ था। सबेरे देखनेपर गंगाकी धार बहुत विशाल हरद्वारमें दोनों पहाड़ों तक पहुँची हुई थी। धारमें सैकड़ों पशु, वृक्ष, मकानोंके छप्पर बहते चले जा रहे थे। कितने ही छप्परोंपर आदमी और बच्चे भी बैठे हुए थे। वह कहाँ गये होंगे?

हरि बाबा गुरुजीको हरद्वारमें रेलपर पहुँचाने गये थे, और अपना ही यमपुरका टिकट कटाते-कटाते बच गये। लौट कर फिर वह कोयलघाटीकी अपनी कुटियामें चले आये। चार महीने जाड़के वहीं किसी तरह बिताये। अभ्यास करते रहे, पर मनकी चंचलताको रोकनेका अवसर नहीं मिल पाया।

कुनांवके वनमें—कोयलघाटी अब उन्हें अनुकूल नहीं जँच रही थी' इसलिए वह कोई दूसरे एकान्त स्थानकी तलाशमें थे। वह अपनी कुटियासे शौचादिके लिए गंगाके किनारे कुछ दूर जाया करते थे। देखा गंगापार पहाड़ और उसकी जड़में घना जंगल है, जिसके नीचे गंगाके तटपर एक डेढ़ मील लम्बा मैदान चला गया है। वह एक अच्छी चरागाह थी, जहाँ सैकड़ों गाएँ चरा करती थीं। गर्मियोंमें वहाँ गौएँ दिखलाई पड़ती थीं, लेकिन सर्दियोंमें उनका कोई पता नहीं रहता। मैदानके पास गंगाके बिल्कुल तटपर एक छोटी सी टेकरी थी, जिसपर एक झोपड़ी पड़ी हुई थी, जहाँ कभी-कभी एक साधु दिखाई पड़ते।

पता लगा, इस स्थानका नाम कुनांव है। पासमें और भी झोपड़ियाँ थीं, जिनमें सर्दियोंसे कोई आदमी नहीं दिखाई पड़ता। हरि बाबा सोचने लगे, कि वह स्थान हमारे लिए बहुत अनुकूल है। वहाँ रहने पर गंगा पार जानेवाले भगत भी नहीं पैदा होंगे। हरि बाबाने रास्तेका पता लगाया। पता लगा, लक्ष्मणझूलासे गंगा पार कर जाया जा सकता है, वहाँसे वह स्थान पाँच मीलके करीब था। दूसरा रास्ता कोयलघाटीसे चार मील नीचे था, जहाँ गंगाको चमड़ेकी मशकसे पार करना पड़ता। १९११ ई०की गर्मियोंके आरम्भमें लक्ष्मणझूलासे होकर हरि बाबा कुनावकी ओर चले। वन-विभागने रास्ता बना दिया था, पर उधरसे लोग बहुत कम आते-जाते थे। वहाँ पहुँचनेपर देखा, वहाँ कोई आदमी नहीं है और कुटिया भी खाली है। झोपड़ियाँ काफी थीं, लेकिन आदमी नहीं। खाने-पीनेके लिए वहाँ कुछ नहीं था, और आसपास कोई गाँव भी नहीं था। जंगलमें खाने लायक कन्दमूल उन्हें नहीं मिला, या पता नहीं था। भूख लगी, अब खायें क्या? शाम होने लगी, चिन्ता और बढ़ी। इसी समय एक पहाड़ी चार गायोंको लेकर वहाँ पहुँचा। हरि बाबाकी हिम्मत बढ़ी। पहाड़ी गोपालने बतलाया, कि और भी लोग गाएँ लेकर आ रहे हैं। ऊपर चारेका अभाव हो जाता है, इसलिए हम अपनी गौओंको लेकर यहाँ आ जाते हैं। गोपालने रातको रोटी बनाई, दो हरि बाबाको भी दे दी। हरि बाबाकी अँतड़ियाँ भूखके मारे कुलबुला रही थीं। भला ऐसे समय योग-ध्यान कैसे किया जाता? अब उनकी जानमें जान आई। रात उन्होंने साधुकी झोंपड़ीमें बिताई।

अगले दिन एक और पहाड़ी गोपाल कई गायोंको लेकर आ गया। उसने हरि बाबासे कहा—आप यहाँ रह कर अच्छी तरह भजनभाव करें, हम आपको भूखा रहने नहीं देंगे। यहाँ हजारसे अधिक गाएँ जमा हो जाती हैं। दूधकी कमी नहीं रहेगी, जितना चाहें उतना पीयें।

दूसरे साधुकी झोपड़ीमें रहना हरि बाबाने पसन्द नहीं किया। गोपालोंकी झोपड़ियोंमें पिस्सू बहुत थे। उन्होंने जंगलमें इधर-उधर अपने लिए कोई अनुकूल स्थान ढूँढ़ना चाहा। गोपालोंने बतला दिया,

कि इस जंगलमें बाघ भी हैं, और हाथी भी काफी रहते हैं। गोपालोंकी झोपड़ियोंसे सौ गजके करीब गंगाके किनारे एक बहुत बड़ा जीयापोताका वृक्ष था। उसकी शाखाएँ आड़ी-तिरछी फैली हुई थीं। हरि बाबाने सोचा, इन्हीं शाखाओंपर बाँस रख कर कुटिया बना लें, तो अच्छा रहेगा। पेड़ बड़ा है, हाथी इसका कुछ बिगाड़ नहीं सकेंगे, और झोपड़ी सूँड़की पहुँचसे बाहर रहनेपर सुरक्षित रहेगी। हरि बाबाने गोपालोंसे कहा—यदि हमें यहाँ टिकाना चाहते हो, तो इस वृक्षपर बाँस बिछा कर हमारे लिए कुटिया बना दो। गोपालोंने कहा—"दो-चार दिन ठहरें, और भी आदमी आनेवाले हैं। उनके पास लकड़ी काटनेके औजार हैं। उनके आते ही हम आपके लिए झोपड़ी बना देंगे।" हरि बाबा इतने दिनों तक साधुकी सूनी कुटियामें रहे।

रोज दस-बीस गौवें बढ़ जातीं और दो-एक नये आदमी चले आते थे। काटनेके औजारोंके आते ही गोपालोंने वृक्षकी डालीपर बाँस बाँध कर उसपर आड़ी-तिरछी डालियाँ बिछा समतल बना दिया। ऊपर फूसका छप्पर भी डाल दिया। पेड़के ऊपर एक अच्छी छोटी-सी झोपड़ी तैयार हो गई। वहीं पानीकी हाँड़ी रखनेका स्थान भी बना दिया। हरि बाबा उस कुटियाको तैयार देखकर इतने प्रसन्न हुए, मानो उनके लिए इन्द्रभवन तैयार हो गया। वृक्षपर चढ़नेमें कहीं-कोई पैर रखनेकी जगह नहीं थी, वहाँ कीले ठोक कर पैर रखने लायक बना दिया गया।

लोग अधिकतर ऐसी ही गौवोंको अपने यहाँ लाते थे, जो गाभन थीं, या बिसुकनेवाली थीं। फिर भी ४०-५० गौवोंमें तीन-चार सेर दूध निकलने लगा। गोपाल सबेरे और शामको आध-आध सेर दूध बाबाके पास पहुँचाने लगे। रोटियाँ भी पका कर लाये, लेकिन बाबाने कह दिया कि हमारे लिए यह दूध ही काफी है। आगे दूध बढ़ाना चाहते थे, लेकिन बाबाने उसे लेना पसन्द नहीं किया। उन्हें तो भूखको मारना था, बाकी समय अपने अभ्यासमें लगाना था। अधिक खाना शरीरको ही सक्रिय नहीं करता, बल्कि मनको भी चंचल बनाता है।

चौबीस घंटेमें सिर्फ एक बार बाबा सबेरे शौचादिके लिए पेड़से नीचे उतरते। कभी-कभी शामको भी एक बार उन्हें उतरना पड़ता। इसके बाद उसी पेड़पर डटे रहते। इस एकान्तवास और दूसरोंसे अल्पतम सम्पर्कके कारण अभ्यासमें उनका मन लगने लगा। रातको देखते कि हाथियों-का झुण्ड पाससे ही गंगा पार हो वीरभद्र महादेवके जंगलमें चरने जाता और भिनसारेको ३-४ बजे वापस लौटता। बाबाको आसन जमाये तीन-चार ही दिन हुए थे, कि एक दंतैल हाथीने आकर उस वृक्षसे पीठ खुज-लानी शुरू की। सारा वृक्ष हिलने लगा। फिर उसने पेड़की एक लटकती डालीको सूँड़से लपेट कर झटका मारा। सारा वृक्ष झटका खा गया और डाली कड़ाकसे टूट कर नीचे जा पड़ी। इस समय हरि बाबा चित्तकी वृत्तको क्या एकाग्र करते? लेकिन उनको विश्वास था कि न दंतैल इस वृक्षको तोड़ सकता है, न हमारी झोपड़ीवाली डालियों तक उसकी सूँड़ पहुँच सकती है। लेकिन पेड़के हिलनेसे झोपड़ीमें रक्खी हँड़िया लुढ़क कर नीचे धमूसे जा गिरी। उसके गिरते ही दंतैल भाग खड़ा हुआ।

हाथियोंके झुण्ड उधरसे रातको अक्सर आया-जाया करते। कुछ दिनों बाद जब हाथियोंका झुण्ड गंगा पारसे चर कर लौट रहा था, उस समय देखा एक हथिनी अपने हाल हीमें पैदा हुए शिशुको सूँड़के सहारे ऊपर ला रही थी। वहाँ गंगाके किनारे बहुत-सी शिलाएँ पड़ी हुई थीं। बच्चा आने-जानेके रास्तेसे कुछ ऊपर चला गया और पत्थरोंके भीतर फँस गया। बाकी हाथी तटके ऊपर आ गये। बच्चा चिल्लाने लगा। उसकी आवाज सुनकर सभी लौट पड़े। उन्होंने बच्चे तक पहुँच कर उसे निकालनेकी बहुत कोशिश की, लेकिन सफल नहीं हुए। इतने हीमें सवेरा हो गया। अब वहाँ रहना सुरक्षित नहीं था, इसलिए बच्चेको वहीं फँसा छोड़ कर सारे हाथी जंगलमें चले गये। गोपाल जब दूध देनेके लिए आये, तो बाबाने उन्हें पत्थरोंमें फँसे बच्चेको निकालनेके लिए कहा। वह उसे निकाल लाये। अपने बछड़ोंमें ले गये तो इस विचित्र काले जन्तुको देख-कर सभी डरके मारे कान खड़ा कर भाग खड़े हुए। बच्चा भूखा था, उसे उन्होंने दूध पिलानेकी कोशिश की, लेकिन दो-तीन दिनमें ही वह

उसमें पूरी तरहसे सफल हुए। फिर तो वह अपनी सूँड़में दूध भर कर मुँहमें उड़ेलने लगा और एक-एक बार चार-चार सेर दूध पी जाता था। गायें बहुत थीं, दूधका घाटा नहीं था। बच्चा दो-चार दिन पहलेका जन्मा मालूम होता था। वह जल्दी ही बछड़ोंमें हिल गया। फिर बछड़े भी उसके दोस्त बन गये। वह बछड़ोंके साथ खूब खेलता, अपनी सूँड़को बछड़ोंकी टाँगोंमें डाल कर उन्हें गिरा देता, कभी उनकी पूँछ पकड़ कर खींचता। एक दिन कुछ अंग्रेज हाथियोंपर सवार होकर जंगलमें शिकार खेलनेके लिए आये। हाथीके बच्चेने देखा, तो वह हाथियोंमें जा मिला और उनके साथ चलने लगा। गोपालोंने अंग्रेजोंसे बहुत कहा कि इसे लेते जाइये, पर उन्होंने बिना सरकारी आज्ञाके हाथीको ले जाना अच्छा नहीं समझा। काफी दिक्कतके बाद उसे दूसरे हाथियोंसे निकाल कर ला पाये। जब तक गोपालोंकी हजारों गायें वहाँ चर रही थीं, तब तक बच्चेके लिए कोई दिक्कत नहीं थी। किन्तु पीछे वह बच नहीं सका।

बाबाका अभ्यास चलता रहा। वहाँ कोई आता-जाता नहीं था। सिर्फ गोपाल शाम-सबेरे दूध दे जाया करते थे। उनसे कोई बातचीत नहीं करते थे। उन्हें पहले हीसे बतला दिया गया था कि बाबा ध्यानमें रहते हैं, बातचीत करनेसे विघ्न होता है। आसन जमा कर बैठनेकी आदत पड़ गई। मनकी वृत्तियाँ भी कुछ काबूमें आने लगीं। मित आहारके कारण शरीर कुछ दुर्बल हो गया, किन्तु उसमें निर्बलता नहीं मालूम होती थी। मन भी अब कुछ-कुछ एकाग्र होने लगा था। बाबाने सोचा यहाँ कोई भगत नहीं पहुँचेगा, पर उनका ख्याल गलत निकला। सारे भारतवर्षके भक्त हिमालयमें योगियोंका पता लगाने आया करते हैं। बम्बईके एक डाक्टरको ऋषिकेशमें पता लगा कि कुनांवके जंगलोंमें एक योगी वृक्षपर रहते हैं। वह वहाँ पहुँचे। डाक्टर बातचीत करना चाहते थे, जिसे योगी उसे भारी विघ्न समझते थे। हरि बाबाको तब भी दो-चार बातें कहने हीपर पिण्ड छुड़ानेमें सफलता मिली। डाक्टरने पूछा—"आपको किसी चीजकी जरूरत है।" बाबाने कहा—"हमें कोई जरूरत नहीं।" डाक्टर तब भी गोपालोंको जबर्दस्ती कुछ रुपये दे गया, कि महात्माको खीर

बना कर खिलाया करना और दूधमें चीनी डाल कर देना। हरि बाबाने डाक्टरकी कोई चीज नहीं ली।

वर्षा अभी आरम्भ नहीं हुई थी। काफी गर्मी पड़ रही थी। इसी समय सद्गुरुजी कोयलघाटीमें हरि बाबाकी कुटियापर पहुँचे। कुटिया खाली थी। स्वामी कृष्णानन्दने बतलाया कि वह सामने गंगा पार कुनांव-में जाकर बैठे हैं। वहाँसे वृक्षकी डालियोंपर उनकी झोपड़ी दिखलाई पड़ती थी। गुरुजीने एक आदमीके हाथ सन्देश भेजा, कि एक दिनके लिए ऋषिकेश आकर जरूर मुझसे मिल जाओ। हरि बाबा गुरुके कृतज्ञ थे, इसलिए वह उनकी आज्ञा माननेसे इन्कार नहीं कर सकते थे। हो सकता है, अभी भी रसायन सीखनेकी कुछ हल्की-सी वासना उनके मनके भीतर थी। लक्ष्मणझूला या मशकवाले घाटसे जानेमें सात-आठ मीलसे कमका चक्कर नहीं पड़ता, और सामने गंगा उतर वह कुछ ही देरमें ऋषिकेश पहुँच सकते थे। उस समय गंगामें पानी भी कम था। यह वही स्थान था, जहाँसे हाथी रोज गंगा पार हुआ करते थे। धारा भी ज्यादा नहीं थी। हरि बाबाको अपनी तैराकीपर पूरा भरोसा था। सोचा इस ४०-५० हाथ चौड़ी धारको यहीं क्यों न पार कर लूँ। कानपुर-की गंगाकी धारको जो कई बार आर-पार कर सकता था, उसके लिए सचमुच ही यह अपमानकी बात थी कि इस छोटी धारको न पार कर आठ मीलका चक्कर लगाये। ऊपरसे लकड़ियोंके स्लीपर बह कर नीचे आया करते हैं। उनमेंसे कुछ किनारे भी पड़े हुए थे। चाहते तो स्लीपर-का सहारा लेकर आसानीसे पार जा सकते थे, पर उन्हें तो अपने तैरनेका अभिमान था। पानीमें उतरे। लेकिन यह काशी-कानपुरकी गंगाका पानी नहीं था। यह तो बर्फानी था। बाहर तेज गर्मी थी, इसलिए घुसते समय तो अच्छा लगा। बाबाने अपने अँचलेको सिरमें बाँध लिया था, कि उस पार चल कर सूखे पहन लेंगे। धारमें आधी दूर तक तो हाथ मारते आसानीसे चले गये। बीच गंगामें पहुँचते-पहुँचते अब हाथ-पैर डण्डे पड़ने लगे, थकावट बड़ी मालूम होने लगी। सिरपर बँधा अँचला भी मन भरका जान पडने लगा। उसे उन्होंने उतार फेंका। अब हाथ-

पैर सुन्न हो गये, उन्होंने हिलने-डुलनेसे इन्कार कर दिया। जीवन-मरणके बीच संघर्ष आरम्भ हो गया। धारा उन्हें बहाकर आगे ले चली। वह बेबस बहे जा रहे थे। बीचमें पाँच-सात गोते भी खाये और उनके पेटमें काफी पानी जा चुका था। डूब कर जब-जब पानीके भीतर जाते, उस समय साँसको रोके रखते, इसीलिए फेफड़ोंके अन्दर पूरा पानी नहीं जाने पाया। डूबते समय आदमी कैसे मरता है, उस समय उसकी क्या अवस्था होती है, इसका अनुभव हरि बाबाको पूरा मिला। कुछ ही दूर बहनेपर एकाएक उन्होंने देखा कि पैर जमीनपर पड़ गये हैं। वह किनारेकी तरफ बढ़नेकी कोशिश करने लगे। उनके डूबनेका दृश्य ऊपर किनारेपर खड़ा एक आदमी देख रहा था। बाबाने उसकी ओर इशारा किया, लेकिन वह नीचे नहीं आया। संयोग समझिए, जो तीन बड़े-बड़े पत्थर धारामें आ गये, और हरि बाबा उनमें फँस गये। उसके बाद तो धारा इतनी तीव्र थी, कि उसमें पड़ कर वह जीवित नहीं रह सकते थे। इन पत्थरोंपर पड़े वह कुछ देर सुस्ताते रहे। फिर पाँच-सात हाथ बची धाराको पार होनेमें समर्थ हुए। समय पाँच बजेका होगा। अभी सूर्यके डूबनेमें काफी देर थी। गंगा किनारेकी रेत काफी गरम थी। बाहर निकलते ही उन्होंने वमन करके पेटका सारा पानी निकाल दिया, और रेतपर लेट गये। थोड़ी देरमें उनका शरीर गरम हो गया।

शरीरमें सूतके नामपर सिर्फ लँगोटी लगी हुई थी। उसी भेसमें वह सद्गुरु बाबाके पास पहुँचे। वह बुलानेके लिए बहुत अफसोस करने लगे। अपने बिस्तरेमेंसे निकाल कर उन्होंने एक अँचला दिया और अगले दिन अपने साथ लक्ष्मणझूला ले गये। कहने लगे—“मेरे साथ चलो, मैं रसायनकी सारी विधि बतला दूँगा।” हरि बाबाने कहा—“अब मैं रसायन सीखनेकी स्थितिमें नहीं हूँ। सारी आशाएँ एक ही बातपर केन्द्रित हैं और उसीमें मैं लगा हुआ हूँ।” सामनेकी परोसी हुई थाली छोड़ कर दूसरेकी ओर भागना उन्हें पसन्द नहीं था। इधर जो ध्यानका कुछ अभ्यास किया था और उसमें प्रगति हुई थी, उसके कारण उन्हें

आनन्द आ रहा था, और रसायन तुच्छ वस्तु मालूम होती थी। उन्होंने गुरुसे कहा—"आपकी कृपासे यदि योगमें मुझे सफलता हुई, तो एक क्या सैकड़ों प्रकारके रसायन स्वतः मेरे पास दौड़े-दौड़े आयेंगे।" गुरुसे आज्ञा लेकर वह फिर अपनी झोपड़ीमें लौट गये।

और भी प्रगति हुई। उन्होंने देखा, जब मनकी वृत्तियोंके स्थिर होनेका समय आता है, तो स्थिरताके साथ श्वासकी गति भी घट जाती है, जिसके साथ ही नाड़ी भी धीमी पड़ जाती है। शरीरकी और क्रियाओंमें भी उसीके अनुसार कमी हो जाती है। मनके अंकुशसे शरीरके व्यापारमें क्यों शिथिलता आती है, यह रहस्य तो उस समय नहीं मालूम हुआ। क्योंकि हमारे विद्वान् मनको अभौतिक मान शरीरसे उसके सम्पर्कको बहुत दूरका बतलाना चाहते हैं, लेकिन आधुनिक शरीर-क्रियाके विद्वानोंने पता लगाया है, कि शरीरकी क्रियाओं, ज्ञान, सम्वेदन आदि सारे मानसिक व्यापारका मुख्य स्थान मस्तिष्क है, जिसके भिन्न-भिन्न क्षेत्रों द्वारा यह क्रियायें सम्पादित होती हैं। मस्तिष्कके दो भाग हैं—धूसरांग और शुभ्रांग। धूसरांग अर्थात् धूमिल रंगवाली मज्जावाला मस्तिष्क ऊपर होता है और शुभ्रांग उसके नीचे। शुभ्रांगके ऊपर धूसरांगकी परत उसी तरह चढ़ी हुई है, जैसे वृक्षके ऊपर छाल। धूसरांग-रूपी छालके पाँच स्तर एक-दूसरेके ऊपर फैले हुए हैं, जिनके नाम हैं—(१) बाह्य तंतुजाल, (२) बाह्य कोश, (३) मध्य कोश, (४) अन्तर्जाल और (५) अन्तर्कोश-स्तर। प्रत्येक स्तरका एक दूसरेके साथ सम्बन्ध है। सभी स्तरोंमें कोशों (सेल) की संख्या दो करोड़के लगभग है। इस अंगके नीचे शुभ्रांग है, जिसके द्वारा शरीरकी क्रियाओं, चेष्टाओं, सम्वेदनाओंका आदान-प्रदान होता है। धूसरांग इन सब क्रियाओंपर नियन्त्रण रखता है, और वही सारे मानसिक व्यापारका अधिष्ठान है। इसीमें सभी स्मृतिपटलोंका वास है। इसके क्रिया-व्यापार निम्न प्रकार बँटे हुए हैं—(१) सबपर व्याप्त तन्तुजाल स्तरमें संकल्प-विकल्पकी तरंगें—वैद्युतिक तरंगें—दौड़ा करती हैं। इन्हींको हमारे योगमें मानसिक वृत्तियाँ कहा गया है। संकल्प-विकल्प या मानसिक वृत्तियाँ एक ही चीज हैं। (२) तन्तुजाल स्तरके

नीचे बाह्य कोशस्तर है, इसमें स्मृतियाँ निवास करती हैं। अधिक प्रतिभाशालियोंमें बाह्य कोश मोटा होता है और साधारण बुद्धिवालोंका पतला। निर्बुद्धियोंमें तो वह अत्यन्त क्षीण होता है। (३) इसके नीचे मध्यकोश स्तर शरीरकी संज्ञाओंका अधिष्ठान है। (४) उसके नीचे तन्तुजाल और उसके नीचे (५) कोश स्तरका सम्बन्ध शरीरके भीतरकी क्रियाओं और चेष्टाओंके साथ है।

बाह्यकोश स्तरके भी अनेक क्षेत्र हैं। उन क्षेत्रोंमें धृतिक क्षेत्रके भीतर हमारी सारी स्मृतियाँ भिन्न-भिन्न कोठरियोंके अनुसार बँट कर अवस्थित हैं। कोशोंके स्पन्दनके कारण वहाँ जो तरंगें उठकर बाह्य स्तर तन्तुजालमें फैलती हैं, यही मनकी वृत्तियाँ या संकल्प-विकल्प हैं। वैज्ञानिक परिभाषामें इन्हें वैद्युतिक तरंग या स्पन्दन कहते हैं। वे तन्तुजालमें वैसे ही व्याप्त हो जाती हैं, जैसे ताँबेके तारोंमें बिजलीकी धारा। इन वृत्तियोंमें तदाकार रहनेवाली सत्ता ही मन है। बाह्य स्तर कोशमें सारे स्मृतियोंके मण्डल मौजूद हैं। जब तक मनुष्य जागृत या अर्धसुप्त रहता है, तब तक इन कोशोंमें स्पन्दन या वैद्युतिक तरंगें उठती रहती हैं, अर्थात् स्मृतियाँ वहाँसे उठ कर सारे तन्तुजालमें फैला करती हैं। इन्हीं स्मृतियोंको योगी लोग वृत्तियाँ कहते हैं, जिन्हें वह एकाग्र करना चाहते हैं। मनके एकाग्र होनेका अर्थ है, इन कोशोंकी क्रियाओंको स्थिर करनेका प्रयत्न। मनको रोकना उसकी वृत्तियोंको रोकना है। स्मृति-मन्दिरसे उठी स्मृति-वृत्तियोंके स्पन्दनको रोकना है, उससे सम्बद्ध कोशोंकी क्रियाको रोकना।

ये स्मृतियाँ (चित्त-वृत्तियाँ) शरीरकी ऐच्छिक और अनैच्छिक गतियोंसे भी सम्बन्ध रखती हैं। नियंत्रित रूपसे उनकी जो क्रिया चलती रहती है, वह स्मृति-मन्दिरसे सम्बन्धित व्यवस्थासे बँध कर ही चलती है। इसीलिए मनके निग्रहसे कोशोंकी ऐच्छिक गति और स्मृतिपर भी प्रभाव पड़ता है। इसी कारण आगे शरीरकी क्रियापर भी उस निग्रहका प्रभाव पड़ना आवश्यक है। इस निग्रहसे श्वास-क्रिया, पाचन-क्रिया, रक्त-संचार, हृदय-गति यहाँ तक कि शरीरके अंगोंकी क्षय-पूर्तिकी गति भी मन्द हो जाती है। यह अनुभव हरि बाबाको मनके एकाग्र करनेसे ही

रहा था। लेकिन वह इस समय उसकी वैज्ञानिक व्याख्या नहीं कर सकते थे।

छः महीना भी अभी कनांवमें पूरे नहीं हुए थे कि उन्होंने मनको एकाग्र करनेमें काफी प्रगति कर ली थी। उनकी भूख कम हो गई थी। जब वह ध्यान लगाते तो श्वास-प्रश्वासकी गति काफी कम हो जाती। नाकके पास रुईका फाहा रख कर देखते तो श्वासकी हवासे पहलीकी अपेक्षा उसका हिलना कम जान पड़ता। शरीर पहलेसे क्षीण हो गया था, किन्तु मानसिक आनन्द बढ़ गया था। उन्हें विश्वास हो चला था, कि यदि दो-तीन वर्ष तक वह इसी तरह अभ्यास करते रहे, तो वह अपनी वृत्तियोंको स्थिर करके इच्छानुसार क्रियामें लगानेमें सफल हो जायँगे।

एक दिन गोपालोंके डेरेमें रातको बड़ा हल्ला मचा था। गौवें अपने बच्चोंको घेरे आँगनमें बैठी हुई थीं। एक चीता गायोंके ऊपरसे कूद कर बछड़ोंपर जा पड़ा। एक बछड़ेको मुँहमें दबा कर उठाया ही था, कि चारों ओरसे गौवें उसपर टूट पड़ीं, और कितनी ही सींगें उसके देहमें धँसने लगीं। हल्ला सुन कर फूसका मशाल बाल लाठियाँ लेकर गोपाल भी पहुँच गये। देखा गौओंने चीतेके चीथड़े-चीथड़े कर दिया है।

कार्तिक मास लगते ही गोपालोंने दूध देते समय आकर कहा—"महाराज, अब तो हम अपने-अपने घर जा रहे हैं। अगले वर्ष फिर आवेंगे। आप या हमारे साथ चलें, या यहाँपर अपने भोजनका कोई प्रबन्ध कर लें। यहाँ अब आपके सिवाय कोई नहीं रहेगा।" हरि बाबाको वह स्थान बहुत पसन्द आया था। ऐसा अनुकूल स्थान मिलना आसान नहीं था। किन्तु, बिना आहारके वह यहाँ रह कैसे सकते थे? खाने लायक कन्दमूल कोई वहाँ था नहीं। वृक्षके पत्ते खाकर निर्वाह करनेका अभ्यास उन्होंने नहीं किया था। गोपालोंके चले जानेके बाद कई वनस्पतियोंको खाकर उन्होंने पाँच-सात दिन गुजारे, किन्तु शरीर बहुत दुर्बल होने लगा, क्षुधा शान्त नहीं हो रही थी। कितना अनुकूल और कितना सुहावना वह स्थान था। एक ओर गंगा बह रही थी, दूसरी

ओर गंगाके कछारमें हरियालीसे भरा मीलों तक सुहावना मैदान चला गया था। तीसरी तरफ हिमालयकी उत्तुंग पर्वतमाला सिरसे पैरों तक हरे-हरे वृक्षोंसे ढँकी थी। इन्हीं जंगलोंमेंसे निकल कर रातको हाथी गंगा घाटपर आया करते थे। अपनी मचानकी झोपड़ीमें बैठे हरि बाबा इस दृश्यको देखा करते थे। पर, अब बिना आहारके वहाँ रहते कैसे? सिर्फ सेर भर दूध या दो रोटियोंका सवाल था, जिसका वहाँ कोई प्रबन्ध नहीं हो सकता था।

अध्याय ७

साधनामें विघ्न (१६११-१४ ई०)

वर्ष २५

देव प्रयाग—बाबाका मन वहाँसे हटनेका बिल्कुल नहीं हो रहा था। एक हफ्ता उन्होंने पत्तों और जड़ी-बूटियोंको खाकर निकाला। लेकिन भूखकी बाधाके कारण अभ्यासमें बाधा होने लगी। सन् १९११ का कातिकका महीना था। इसी समय बाबा अपनी झोपड़ोकी ओर हसरतकी निगाहसे देखते वहाँसे बिदा हुए। लक्ष्मणझूलामें रहना उनके लिए अनुकूल नहीं था। वह वहाँसे ऊपर चले। तीसरे दिन देवप्रयाग पहुँचे। साधुओंसे पता लग गया था, कि गंगा पार देव प्रयागसे आधा मील दूर एक एकान्त गुफा है, जिसमें कभी एक तपसी बाबा रहा करते थे। हरि बाबा उसीके लिए आये थे। देवप्रयागसे पाव मीलपर गंगाके बिल्कुल किनारे कुछ गड़हे जैसी जगह थी, जिसे रहने लायक बनाया जा सकता था और दूसरी गुफा आसपास दो मील तक कहीं नहीं थी। वहाँ भोजन-का प्रबन्ध नहीं हो सकता था। देव प्रयागमें मधुकरी अवश्य मिल जाती। यदि १०-११ बजेके करीब पण्डोंके घरोंमें पहुँच जाते, तो वह सत्कार-पूर्वक एक रोटी देनेसे आना-कानी नहीं करते। गंगा तककी वह जगह पूरी तौरसे तो अनुकूल नहीं थी, लेकिन और दूसरी दीख भी नहीं रही थी, इसलिए उन्होंने वहीं रह कर जाड़ा बितानेका निश्चय किया। हाथ-पैर हिला कर गढ़ेको रहने लायक बनानेमें दिक्कत नहीं हुई। पासके गाँवके एक पुरुषने भी कुछ मदद की, वह स्थान सर्दी और हवासे बचने लायक बन गया। बाबाके पास दो कम्बल और एक कम्बलकी अलफी थी, जिससे वह सर्दीको रोक सकते थे। इनके अलावा एक अँगोछा, दो

लँगोटी और एक कमण्डल भर उनके पास था। मधुकरी माँगने दो ही तीन दिन गये, चार घरसे खाने भरके लिए भात और दो फुलके आसानी-से मिल जाते थे। यह आहार उनके लिए चौबीस घंटेके वास्ते पर्याप्त था। गुफासे कुछ दूर हट कर गाँवकी ओर जानेवाली पगडण्डी थी, लेकिन वहाँ कोई आता-जाता दिखाई नहीं पड़ता था।

पण्डोंको यह तो पता लग गया, कि उस स्थान पर एक बाबा बैठे हुए हैं, लेकिन सारे जाड़े भर वहाँ कोई नहीं आया। छः महीनेसे कुछ अधिक बाबा वहाँ रहे। अभ्यासमें उनका मन खूब लग गया, और उसमें कुछ उन्नति भी हुई। लेकिन, उससे बाबाको पूरा सन्तोष नहीं था। भोजनके समयका ख्याल सबेरेसे ही उनकी वृत्तियोंको उस ओर खींचता रहता था। कुनांव जैसी सुविधा यहाँ नहीं थी। गर्मियाँ आईं। बदरीनाथके कपाट खुल गये। नीचेसे यात्रियोंका जाना-आना आरम्भ हो गया। पण्डोंको तो यात्रियोंसे पैसा बनाना था। नीचेसे आये भगत पूछा ही करते—यहाँ कन्दराओंमें कोई सिद्ध-महात्मा, योगी-तपस्वी हैं ? पण्डे अपने यजमानोंको प्रेतशिला और दूसरे तीर्थोंमें ले जाते। अब उन्होंने हरि बाबाके स्थानको भी उसमें शामिल कर लिया। वह अपने यात्रियोंको लेकर तपसी बाबाका दर्शन कराने लाते। कुछ भगत दर्शन कर हाथ जोड़ कुछ पैसे चढ़ा चले जाते। पैसोंको पण्डोंके लड़के या दूसरे आकर उठा ले जाते। बाबाको उनसे कोई मतलब नहीं था। इतना ही तक होता तब भी काम चल जाता। लेकिन, कितने भगत ऐसे भी आते, जो बाबासे कुछ उपदेश लेना चाहते, और बिना उसके वह वहाँसे टलना नहीं चाहते। दो-चार दिनमें ही हरि बाबा परेशान हो गये। उन्होंने मौन धारण कर लिया, और एक पट्टीपर लिख कर लगा दिया, कि बाबाने मौन धारण किया है। पर, ऐसे भी मूढ़ भक्तोंकी कमी नहीं थी, जो कहते—"आप बोलते नहीं हैं, तो कुछ उपदेश ही लिखकर दे दें, उसीसे हमारा मनोरथ पूरा हो जायगा।" एक भगत तीन दिन लगातार पीछे पड़े रहे, और कुछ लिख कर देनेपर ही पिण्ड छूटा।

बाबाके लिए अब उस स्थानको छोड़े बिना और कोई रास्ता नहीं

था। देवप्रयागसे प्रायः दो मीलपर अलकनन्दाके किनारे प्रेतशिला है। वहाँ एक कुटिया बनी थी, जिसके पासमें ही एक मन्दिर था। कुटियामें कोई रहता नहीं था। बाबा सावनके महीनेमें गंगा तटको छोड़ कर यहाँ चले आये, और मौन धारणके कारण लोग उन्हें मौनी बाबा कहने लगे। पासमें एक गाँव था, और कुछ घर पण्डोंके भी थे। मधुकरी उन्हें आसानीसे मिल जाती थी। दिनमें प्रेतशिलामें पण्डे यात्रियोंको लाया करते थे। यद्यपि प्रेतोंको मुक्त करनेका अधिकार गयाको मिला है, पर इस एकाधिकारको हर जगहके पण्डे माननेके लिये तैयार नहीं हैं। उन्होंने जगह-जगह प्रेत-मुक्तिके लिए शिलाएँ कायम कर लीं। बदरीनाथमें भी प्रेत-शिला हैं, और वहाँके पण्डे देवप्रयाग में रहते हैं। उन्होंने यहाँ भी एक शिला निश्चित कर रक्खी है। पहाड़के लोग और बातोंमें चाहे जितना भी पिछड़े हों, लेकिन उनके पण्डे नकली तीर्थ बनानेमें सबसे आगे बढ़े हुए हैं। इसी कारण यहाँ काशियों और प्रयागोंकी धूम है। चावल-दालका हटका जगन्नाथजीको ही चढ़ता है, लेकिन हटका आमदनीका सौदा है, इसलिए बदरीनाथमें भी वह जोर-शोरसे चढ़ने लगा। प्रेतशिलासे लोग डरते बहुत थे। आखिर पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण सारे देश भरके प्रेतोंको लाकर वहाँ मुक्त कर दिया जाता था। उनकी पुरानी आदत छूटी थोड़े ही थी। वह किसीको पकड़ लेते, इसीलिए शाम होते ही वहाँ आनेकी किसीकी हिम्मत नहीं होती थी। लोगोंमें हल्ला था, प्रेतशिलापर रातको प्रेतोंकी सभा जुटती है। जो कोई वहाँ भाग्यका मारा पहुँच जाये, वह जीता नहीं लौट सकता। मौनी बाबा वहीं रहते थे। वह जरूर पहुँचे हुए सिद्ध थे, तभी तो भूत-प्रेत उनका कुछ नहीं बिगाड़ते। इसके कारण मौनी बाबाके प्रति लोगोंकी श्रद्धा और बढ़ गई। यह भी प्रसिद्धि थी, कि वहाँ बिच्छू बहुत होते हैं, और इतने जहरीले, कि मर्म स्थानपर काट दें, तो आदमी मर जाता है। बाबाकी कुटियामें वह काफी थे। बाबा दो मास वहाँ रहे, लेकिन भूतोंकी तरह बिच्छुओंने भी उनपर दया रक्खी। बाबा दिनको सोते और रातको अभ्यास करते थे। कभी-कभी दोपहरके भोजनके बाद भी शाम तक पड़े-पड़े ध्यान लगाया करते। यह यात्रियोंके

आनेका समय था। बाबा सोये हुए हैं, यह सोच कर कोई उन्हें छेड़ता नहीं था। चित्त-वृत्तियोंकी एकाग्रताका अभ्यास ऐसा है, जिसके लिए बैठना या लेटना एक-सा ही है। हाँ, लेटनेपर नींद आने लगती है, जो ध्यानमें जबर्दस्त बाधा है। ध्यानमें निद्राको इसीलिए पाँच क्लिष्ट (मलिन) वृत्तियोंमेंसे पहला स्थान दिया गया है। वास्तवमें निद्रा भी वृत्तियों—संकल्प-विकल्पों—के बन्द हो जानेकी ही एक अवस्था है। मनुष्य जब गहरी निद्रामें होता है तो उस समय उसकी सारी मानसिक क्रियाएँ बन्द-सी रहती हैं। मनको रोक कर जिस अवस्थामें हम पहुँचना चाहते हैं, वही निद्रा तो शरीरको विश्राम देनेके लिए नित्य नियमपूर्वक आती रहती है। लेकिन, ध्यान-योगके समय शरीर और मनकी चेतन अवस्थाके रहते उस स्थितिको लानेका प्रयत्न किया जाता है। दोनोंकी प्रतिस्पर्धामें ध्यान करते जब मन और उसकी वृत्तियोंको एक सूत्रमें बाँधनेका प्रयत्न किया जाता है, तभी वह अपनी प्रतिच्छायाको मनपर डाल उसे लुप्त कर अपना रूप प्रकट करती है। प्रकृतिने निद्राके रूपमें शरीरके अंगोंको विश्राम देकर उन्हें पुनर्जीवित करनेका अवसर प्रदान किया है, वही ध्यानमें बाधक होता है। लेटनेपर सारे शरीरके निष्क्रिय होनेके कारण बैठनेकी अपेक्षा अधिक निद्रा आती है, और मन एकाग्र होनेकी जगह निद्रामें लिप्त हो जाता है। जब थकावट दूर हो जाती है, तो फिर मनपर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। हरि बाबा अनेक बार ध्यान करते-करते सो जाते। लेकिन, निद्रा कब तक उन्हें दबाये रखती? उसके हटते ही वह फिर मनको एकाग्र करनेमें लग जाते। हरि बाबाने किसी तरह दो महीना वहाँ काटे, लेकिन आवाजाहीके कारण बाधा बराबर रहती। इसीलिए जाड़ोंके आरम्भ होते ही फिर वह ऋषिकेशमें अपनी कोयलघाटीकी कुटियामें आ गये।

पांवटा—जैसा कि पहले लिखा, हरि बाबाकी घुमक्कड़ी और अभ्यास कई वर्षों तक चलते रहे। सभी काल और स्थान याद रखना उनके लिए मुश्किल था। शायद १९१३ ई० का चैतका महीना था, जब कि वह ऋषिकेशसे किसी दूसरे एकान्त स्थानकी तलाशमें निकले।

देहरादून आये। वहाँ किसी भद्रपुरुषके साथ ठहरे थे। जंगलसे ढँके किसी पहाड़ी स्थानको देखनेके लिए निकले। भद्रपुरुषका छोटा-सा कुत्ता भी उनके साथ-साथ गया। दोनों जने इधर-उधर घूम रहे थे, कि देखा, कुत्ता भूँका और उसके बाद फिर चुप हो गया। जाकर देखें, तो कुत्तेको अजगर लील रहा है। उसकी भूखको शान्त करनेके लिए उसे छोड़ दिया गया। देहरादूनसे चूहड़पुर गये, फिर कालसी। कालसीके बचे-खुचे वैभवको चूहड़पुरने लूट लिया। किसी समय सिरमौरकी राजधानी और उससे भी पहले एक बड़ा व्यापारिक नगर कालसी अब सिसक-सिसक कर मर रहा था। जाड़ोंमें पहुँचे होते, तो चकरातासे कचहरीके आ जानेसे कुछ अधिक आदमियोंको देख सकते थे। इस वक्त तो वह आधे खड़े आधे गिरे घरोंकी सिसकती बस्ती थी। नीचे जमुनाके किनारे उस चट्टानको भी देखा, जिसपर अशोकने अपने अभिलेख खुदवाये थे। वह तलाशमें थे, कोई एकान्त स्थान मिले, जहाँ मधुकरीका भी सुभीता हो, पर वैसा कोई स्थान नहीं मिला। बाबा चूहड़पुर लौट आये। फिर जमुना पार हो सिरमौर रियासतमें प्रविष्ट हुए। कालसी जाते समय उनको दाद दिक करने लगी थी, वह बढ़ती जा रही थी। खौंड़ावालाके पास नदीके किनारे एक गाँवमें एक बड़े साधुसेवी ठाकुर साहब रहते थे। वह गरीबोंको मुफ्त दवा बाँटा करते थे। दादकी दवाके लिए हरि बाबा भी उनके पास पहुँचे। उन्होंने बड़ा सत्कार किया। खुजलाते देखकर कहा—"बाबा, आपको तो दाद लग गई है।" बाबाने कहा—"हाँ, दो-चार दिनसे लगी है।" ठाकुर साहबने कहा—"कोई पर्वाह नहीं, मैं दवा देता हूँ, दो-चार दिनमें ठीक हो जायेगी।" अगले दिन बेरके बराबरकी चार गोलियाँ देकर कहा—"पानीमें घिस कर खुजला कर दाद के ऊपर इसे लगा दें।" दो-चार दिनमें सचमुच ही दाद खतम हो गई। कहीं फिर न हो जाय, इसलिए बाबाने ठाकुर साहबसे दवाके बनानेकी प्रक्रिया पूछी। ठाकुर साहबने कहा—"दवा बनाना मुश्किल नहीं है, और उन्होंने उसे बतला भी दिया।" (देखो परिशिष्ट १)

ठाकुर साहबके यहाँ रह कर हरि बाबा अभ्यासके लिए एकान्त स्थान

ढूँढ़ने लगे। वहाँ न मिलनेपर वह मानपुरदेवड़ा गये। फिर गिरि नदी पार कर पांवटा साहब पहुँच गये। पांवटा साहबमें गुरु गोविन्दसिंह कई वर्षों तक रहे। इसीलिए सिक्खोंके लिए वह तीर्थस्थान है। उस समय अभी यहाँ कम ही आदमी आते थे। नाहनसे हरद्वारकी मोटर-बस का अभी कहीं पता नहीं था। उसके हो जाने तथा देश-विभाजनके बाद शरणार्थियोंके आ जानेपर पौंटा साहबने कस्बेका रूप धारण कर लिया है। उस समय वह अभी ३०-३५ छोटी-छोटी दूकानोंका एक छोटा-सा बाजार था। सिक्खोंका गुरुद्वारा था। थोड़ी दूरपर उत्तरकी तरफ एक मन्दिर था, जिसके पास ही जमुना ३०-४० फुट नीचे बह रही थी। जमुनाकी कगार उत्तरकी ओर दो-तीन फर्लांगपर चली गई थी। मन्दिरसे कुछ दूर जानेपर एक चश्मा मिलता। वर्षाकालमें जमुनाके पानीमें डूब जाता, बाकी समय जमुना उससे हट कर बहती। चश्मा क्या एक कुण्ड था, जो काफी गहरा था। उसीके किनारे एक टूटी झोपड़ी दिखाई पड़ी, जिसमें कभी कोई एकान्तवासी साधु रहा करता था। हरि बाबाको वह जगह पसन्द आई। कुनांवके गंगा तटका-सा ही कुछ सुन्दर दृश्य यहाँ भी था।

अभ्यास—बाबाने कुटिया ठीक-ठाक कर ली। किसीने एक तख्त-पोश दे दिया। उसे भी कुटियाके भीतर डाल दिया। पौंटामें मधुकरी आसानीसे मिल जाती थी। वहाँसे मधुकरी माँग लाते और खाकर कुटियामें बैठ अभ्यास करते। कुटिया का स्थान कगारके बीचमें था, जिसके ऊपर खेत थे। खेतोंमें बहुत चूहे थे और उनकी लालचसे साँप भी वहाँ डेरा डाले हुए थे। घूमते-फिरते अक्सर वह दिखाई पड़ते, पर हरि बाबा उनसे भयभीत नहीं थे, शायद उन्हें योगसूत्र याद आ रहा था—"अहिंसा प्रतिष्ठायां सर्वभूतानभिद्रोह ?" (अगर आदमी पूरी तौरसे अहिं-सक हो जाय तो कोई भी प्राणी उससे वैर नहीं कर सकता।) स्थानकी एकान्तता देखकर बाबा को कुनांव अब भूल-सा गया। कभी-कभी कोई आ जाता, लेकिन नमस्कार करने भरके लिए। कोई बातचीत नहीं करता। कुटियाके बाहर एक बहेड़ेका वृक्ष था, जिसके किनारे चबूतरा बना हुआ

था। कभी-कभी बाबा उस चबूतरेपर बैठ कर ध्यान लगाते आनन्द अनुभव करते। वहाँपर बैठ कर उन्हें जमुना और पारकी पर्वतमालाओंका सुन्दर दृश्य दिखाई पड़ता। मन लगने लगा, चित्तकी वृत्तियोंके एकाग्र करनेमें भी काफी प्रगति हुई।

दो-तीन महीने बाद बनियोंने जोर दिया, आप एक घरमेंसे भोजन कर लिया करें। पर हरि बाबा इसे पसन्द नहीं किया करते थे। उन्हें दो-तीन फुल्कोंकी जरूरत थी और एक घरसे ही वह उन्हें मिल जाते थे, पर वह दो घरसे लिया करते थे। जैसे-जैसे अभ्यासमें वह मनको रोकनेमें सफल होते गये, वैसे-वैसे ऐसी स्थिति पैदा होती गई कि मनको अपना आज्ञाकारी बना सकें। इच्छानुसार जहाँ चाहते, वहाँ कुछ क्षणके लिए उसे ठहरा देते। इस सफलतासे उन्हें आनन्द भी अधिक आने लगा। जितनी देर मन एक जगह स्थित होता, उतनी देर श्वास और हृदयकी गतिमें काफी कमी हो जाती। यही नहीं, सारे शरीरकी क्रिया उसीके अनुपातसे मन्द हो जाती। एक वर्ष तक अभ्यास करते रहनेपर उनका शरीर और क्षीण हो चला। भोजनकी मात्रा दोसे घट कर आधी रोटी रह गई, बल्कि उसको भी खाना और पचाना कठिन हो गया। शरीर जरूर निर्बल होता जा रहा था, किन्तु मन बहुत प्रसन्न था, क्योंकि चित्तकी एकाग्रतासे एक विचित्र आनन्द मिल रहा था। अब ऐसी स्थिति आ गई थी कि वह मनको जिस समय जिस ओर लगाना चाहते, काफी क्षणों तक वह तदाकार होकर स्थिर रहता, शरीरकी कोई सुध-बुध नहीं रहती। यद्यपि अभी स्थिति कुछ ही क्षणोंकी थी, इसलिए इसे सिद्ध अवस्था नहीं कहा जा सकता। पर, अब उन्हें विश्वास हो गया था कि मैं ठीक रास्तेपर आ गया हूँ। वह यह भी समझने लगे कि जब मन पूर्णतया एकाग्र हो जायगा तो शरीरकी कोई सुध-बुध नहीं रहेगी। घंटोंकी ऐसी स्थितिको समाधि कहते हैं। हरि बाबा अब समाधिके द्वारपर थे। भोजन तीन-चार ग्रास रह गया था। मधुकरी लेनेके लिए जानेमें उन्हें थकावट मालूम होती थी। अब किसी एक आदमीकी आवश्यकता थी, जो उनके खाने-पीनेकी

खोज-खबर लेता रहता। यदि ऐसा सहायक मिल गया होता तो कुछ ही समय में वह अपनी तपस्यामें पूरे हो गये होते।

विघ्न—१९१४ ई० के कातिकका महीना, कृष्णपक्षकी रात्रि थी। हरि बाबा आधी रातको तख्तपोशपर पद्मासन लगाये ध्यानावस्थित बैठे थे। चूहोंकी तलाशमें दो साँप झोपड़ीके छप्परपर घुसे थे। शायद एकने दूसरेको चूहा समझा या यों ही एकने दूसरेकी गर्दन पकड़ ली। दोनों गुत्थमगुत्था होकर छप्परसे निकल हरि बाबाके ऊपर गिरे। एक बाबाके गलेसे लिपट गया, दूसरेका शरीर बाबाके पद्मासनपर हिल रहा था। बाबाका ध्यान एकाएक भंग हुआ। उन्होंने साँपोंकी ओर देखा। शरीर काँपने लगा। शरीरके हिलते ही एक साँपने दूसरे साँपको छोड़ दिया। नीचेवाला साँप सरसे निकल गया। दूसरा जो गलेसे लिपटा हुआ था, वह भी गर्दनको छोड़ कर उतरने लगा। मस्तिष्कमें और भी जोरसे भयका संचार हुआ। दोनों ही साँप उतर कर चले गये, पर मस्तिष्कपर ऐसा जबर्दस्त प्रभाव पड़ा कि वह घूमने लगा। मालूम होता था, सारी दुनिया बड़ी तेजीसे घूम रही है। चक्करके कारण हरि बाबाको होश-हवास नहीं था। वह बैठे भी न रह सके। लेट गये, फिर भी चक्कर बन्द नहीं हुआ। मालूम होता था, कुटिया कुम्हारके चक्केकी तरह घूम रही है। उन्हें कुछ नहीं समझमें आ रहा था कि क्या हो रहा है। रातको किसी तरह लेटे-लेटे काट दिया। नींद कहाँ आनेवाली थी?

सुबह होनेपर चक्कर कुछ कम हुआ, मन भी कुछ सावधान होने लगा। सबेरा होते नित्यक्रियाके लिए उठे, लेकिन फिर चक्कर आ गया। अपनेको न सँभाल कर वह फिर लेट गये। अबकी बार मूर्छित-से हो गये। बालसूर्यके प्रकाशने कुटियाके भीतर अपना आलोक फैला दिया। वह फिर उठनेका प्रयत्न करने लगे। बैठते ही फिर चक्कर आया। अबकी उसका जोर कुछ कम था। सोचने लगे—"क्या बात हो गई? क्यों होश-हवास ठीक नहीं हो रहे हैं।" उस एकान्त स्थानमें वह मर भी जाते तो वहाँ कौन पूछनेवाला था? काफी दिन चढ़ आया। शौचसे निवृत्त हो स्नान करना चाहते थे, पर उठनेमें डर लगता था। हिम्मत करके उठे, चक्कर

आने लगा, पर कुछ हल्के। चलनेमें जमीनपर सीधे पैर नहीं पड़ता था। जैसे-तैसे चल कर पेशाब किया। हाथ-मुँह धोनेके लिए कुण्डके किनारे पहुँचे। झुक कर पानी लेने लगे। अबकी बड़े जोरका चक्कर आया। वह अपनेको सँभाल नहीं सके, और कुण्डमें गिर पड़े। कुण्डमें एक उभड़ा हुआ पत्थर था, जिसपर उनका पैर पड़ा और एक हाथ किनारेके पत्थरमें फँस गया। कुछ क्षणों बाद होश आनेपर देखा, वह बड़ी भयंकर स्थितिमें हैं। जरा भी चूकते तो कुण्डमें गिर जानेके सिवाय और कोई रास्ता नहीं था। किसी तरह वहाँसे निकल कर कुटियामें आये। अपनेको सँभालनेमें काफी समय लगा।

मध्याह्नका समय हो गया। आज वह मधुकरी (भिक्षा) लेनेके लिए नहीं गये। एक बनियेका लड़का इसी समय आ गया। उससे कहा और वह भोजन दे गया। अब सोचने लगे, आगे क्या होगा। रातके समय कुछ चित्त शान्त हुआ। मन एकाग्र करनेकी ओर ख्याल गया, तो फिर वही चक्कर। रातमें वह मुश्किलसे तीन घंटे सोया करते थे, अभ्यास करते-करते ऐसी ही उनकी आदत बन गई थी। यदि नींदको वर्जित न कर दिया होता, तो बारह घंटेकी रात काटनेमें कुछ तो सहारा मिलता। सोचने लगे, यह विघ्न दैवी है या आकस्मिक। गोसाईंजीकी याद आती "रिद्धि-सिद्धि तहाँ प्रेरे भाई। बुद्धि हिं लोभ दिखावें आई।" उनकी तपस्या भंग करनेके लिए किसीका यह प्रयत्न तो नहीं। लेकिन वह किसके इन्द्रासनको छीननेवाले थे? रात भर विचारते रहे, कुछ समझमें नहीं आया। ब्राह्म मुहूर्तका समय आया। उठ कर बैठ गये और ध्यानका प्रयत्न करने लगे। फिर चक्कर आया और वह गिरते-गिरते बचे। तख्त-पोशपर लेट गये। डेढ़ घंटे बाद तबीयत कुछ ठीक हुई।

दोपहरको मधुकरीके लिए पांवटा गये। मंगताराम और प्रभुदयाल दोनों हरि बाबापर बड़ी श्रद्धा रखते थे। वह कुछ पढ़े-लिखे और समझदार आदमी थे। उनसे रातकी घटना सुनाई तो उन्होंने सलाह दी, अब कुछ दिन अभ्यास छोड़ दें, और यहीं हमारे पास आकर रहें। नाकर-नुकर करनेपर भी उन्होंने बाबाका आसन-बासन जबर्दस्ती मँगवा

लिये। बाबा अब उनके घरपर विश्राम करने लगे। चिरंजीलाल दूकानदार बुद्धिमान् तथा आर्यसमाजी विचारोंके थे। उनकी भी बाबापर बड़ी श्रद्धा थी। लेकिन बाबाके लिए दिन काटना मुश्किल था। गप् लड़ानेकी आदत नहीं थी, इसलिए पुस्तकोंको देखने लगे, जिनमें आर्यसमाजी ग्रंथ भी शामिल थे। सारा जाड़ा वहीं गुजारा। जब तब कुटियाका दर्शन कर आते, ध्यानका तो नाम भी नहीं ले सकते थे। कभी-कभी कुछ टहलने चले जाया करते थे। धीरे-धीरे भोजनकी मात्रा बढ़ी और कुछ महीनोंमें शरीर पूर्व स्थितिपर आ गया। बुद्धने निराहार रह कर साधना करनी चाही थी। जब शरीर न सँभाल कर गिर पड़े तो पता लगा, यह सिद्धि-का नहीं, आत्महत्याका रास्ता है, इसलिए उन्होंने उसे छोड़ दिया और विचारोंका रास्ता पकड़ा। हरि बाबा यद्यपि जान कर निराहार व्रत नहीं कर रहे थे। शरीर सूखकर काँटा-सा हो गया था। जब फिर वह हरा हुआ तो सोचने लगे, कुटियामें चलकर फिर अभ्यास करें और यह विचार भक्तोंके सामने भी प्रकट किया। निश्चय कर लेनेपर हरि बाबा कभी किसीकी नहीं सुनते। जाकर ध्यान लगाने बैठे तो फिर चक्कर शुरू हुआ। अब वह इसी निश्चयपर पहुँचे कि योगमें लगना सम्भव नहीं, उस तरफ बढ़ना सर्वनाशका आवाहन करना है।

अध्याय ८

वैद्य घुमक्कड़ (१९१५-१८ ई०)

वर्ष २६-२८

हरि बाबा १६ वर्षकी अवस्था में घरसे निकले थे। साधु रह कर दस वर्ष उन्होंने योगियोंकी खोज या योगाभ्यास में लगाये। पहले नाबालिग थे, और अब २५ वर्षको पूरा करके २६वे में पैर रख रहे थे। वह अपने बारे में आगे-पीछे पूरी तौर से सोचनेमें समर्थ थे। पांवटामें दो-चार बार प्रयत्न करने पर देखा कि ध्यान अब हमारे बस की बात नहीं है। वह साधुओंकी तरह ही उस समय सोच सकते थे। साँप शायद निमित्त हो। वस्तुतः यह उनकी साधनामें विघ्न होनेका ही बहाना था। वह आस्तिक थे, भगवान्‌पर विश्वास रखते थे, और योग के बारेमें पढ़ी-सुनी बातों पर भी श्रद्धा न होनेका कोई कारण नहीं था। लेकिन, वस्तुतः ऐसा हुआ क्यों? मन और शरीरका अविच्छिन्न सम्बन्ध है। काया पर मन आश्रित है। कायाकी तरह मन भी अन्नमय है, भोजनसे ही उसे शक्ति मिलती है। दो-चार ग्रास खा लेना बहाना था, उससे शरीर और मनको पोषण नहीं मिल सकता था। साँपोंकी मर्दामें तो वह रहते ही थे। यदि वह लड़ते-लड़ते उनके ऊपर गिर पड़े, तो यह इन्द्रके सिंहासनके गरम होनेके कारण नहीं। साँप कालके साक्षात् शरीर हैं। उनके गिरनेपर डसनेकी सम्भावना बिल्कुल निश्चित थी। मन इसीलिये उत्तेजित हो उठा, और शरीरके निर्बल होनेसे मन भी अतिनिर्बल तो था ही, वह आगे-पीछे विचार नहीं कर सके। उसके ऊपर एक बहुत बड़ा आघात पड़ा। शरीरकी चोट कुछ दिनोंमें भर जाती है, लेकिन मनपर लगी चोटकी परम्परा चलती रहती है। आखिर मनको भी तो मन ही

द्वारा समझाया जा सकता है। जब वह समझनेके लिए तैयार नहीं, तो उसे कैसे समझाया जाता ? मनने फिर उस रास्तेपर जानेसे इन्कार कर दिया, जहाँ पर फिर उसी तरहसे आघातका शिकार होना पड़े।

जिसके लिए हरि बाबा साधु बने थे, वह साध पूरी नहीं हुई। यह बतला चुके हैं, कि केवल घूमनेके लिए घुमक्कड़ी जीवनको अपनाना हरि बाबाको पसन्द नहीं था। उनका शरीर हलका, देखनेमें माँस कम किन्तु ६७ वर्षकी अवस्थामें भी वह आकृति और बलमें लोहेका है। अब भी वह मैदान या पहाड़में इतनी तेजीसे चलते हैं, कि जवान भी उनके साथ नहीं चल सकते। दुरारोह पहाड़ों पर वह पहाड़ियोंकी तरह चढ़ सकते थे। घुमक्कड़ बनने के लिए उनके पास सारी शारीरिक सम्पत्ति थी। यदि उधर लग जाते, तो उस कलामें भी वह आगे रहते। वह लिखते हैं। आयुर्वेद पर कई पोथियाँ उन्होंने लिखी हैं, लेकिन जिस तरहकी लेखनी घुमक्कड़को चाहिये, कहीं उस तरहकी लेखनी उन्हें मिली होती, तो सम्भव है, वह घुमक्कड़ी जीवनको अपना लेते। लेकिन, देवता केवल योग-साधनामें ही विघ्न नहीं डालते, बल्कि घुमक्कड़ीको भी परमार्थ वस्तु समझ कर उसकी सिद्धिमें भी बाधा डालनेसे नहीं चूकते। शायद उन्होंने ही एक ही तीरसे दो चिड़ियोंका शिकार किया हो।

ज्ञान-ध्यानका रास्ता तो हाथसे गया। अब जगह-जगह घूमते रोटियाँ तोड़ने का रास्ता रह गया था। वैरागियों और तुलसी बाबाकी सलाहको पसन्द करते तो भक्ति-मार्ग अब भी उनके लिए खुला हुआ था। वैरागी सगुण भगवान्‌की उपासना करते हैं। उसे तुच्छ समझ कर ही योग-मार्ग पर आरूढ़ हो हरि बाबा निर्गुण उपासना कर रहे थे। योगसे मुक्ति उनकी समझमें आ सकती थी। वेदान्तीसे पूछते, तो वह कहता—यह योग-जाग बेकार है। यही समझो "अहं ब्रह्मास्मि" (मैं ब्रह्म हूँ)। बस बेड़ा पार है। बल्कि समझनेकी भी बात नहीं, क्योंकि ब्रह्मके सिवा संसार में जितनी वस्तुएँ हैं, सब सपनेकी तरह,

रस्सीमें साँपके भ्रमकी तरह सरासर झूठी हैं। तुम-हम बने-बनाये ब्रह्म हैं। इसपर भी विश्वास करके अगले सारे जीवनको अर्पण करना हरि बाबाके लिये मुश्किल था। दूसरोंको उपदेश देनेकी भी उनको हिम्मत नहीं होती थी। जब अपनेको ही अल्पज्ञ समझते थे, तो दूसरोंके सामने सर्वज्ञ कैसे बनते? हरि बाबा धर्मके दूकानदार नहीं बनना चाहते थे। अभी न पाँडीचरीकी दूकान खुली थी, न तिरुवन्नामलैकी। खुली भी हो, तो हरि बाबाको उनका पता नहीं था। जो दूकानें साधुओंको अपनी ओर खींचती हैं, वह साधुओंको नहीं खींच सकतीं। वह तो घरके भेदिया ठहरे। समझते हैं, सभीके घरमें मिट्टीका चूल्हा होता है। लोग सिद्ध-साधक बन कर ख्याति प्राप्त करते हैं, पूजित होते हैं। ऋषिकेशकी बड़ी दूकान खुलनेमें तो अभी काफी देर थी। वह अच्छी तरह जानते थे, इन सिद्धोंमें खानेके दाँत और, दिखानेके दाँत और .हाथीकी तरह ही होते हैं। स्वामी सत्यानन्द जैसे बिरले ही होते हैं, और उनको न कोई जानता है, न वह जतलानेकी कोशिश करते हैं। यद्यपि स्वामी सत्यानन्द ने कह दिया था, कि योगदर्शन तुम्हारे पथ-प्रदर्शनके लिए काफी है, लेकिन योगदर्शनने यह चेतावनी नहीं दी थी, कि तुम आहार कम करते-करते हड्डी-चमड़ा मात्र न रह जाना, और न यही, कि निर्बल मनपर भारी चोट पड़नेके बाद उसका प्रतिकार कैसे करना चाहिये। शायद स्वामी सत्यानन्दसे जब-तब मिलते रहते, तो उन्होंने कुछ सहायता जरूर की होती। आखिर वह उसी ध्यानमें वर्षोंसे लगे हुए थे, शरीरपर अति-चार नहीं करते थे। इसलिये उनका जीवन स्वाभाविक तौरसे बीत रहा था मान लिया चित्तकी वृत्तियों पर योगी इच्छानुसार नियंत्रण करता है। हो सकता है, घंटोंके नियंत्रणसे शरीरकी सुध-बुध खोकर समाधिस्थ हो जानेपर श्वास अतिक्षीण या कुछ समयके लिये बन्द हो जाता है, तो इससे ही क्या बननेवाला था? ब्रह्माका दर्शन? यह तो मनका काम है। मन ही ब्रह्मको बनाता है, अल्लाको बनाता है, सारी दुनियाके देवताओंको बनाता है। आत्म सम्मोहन (Self hypnotism) द्वारा मन-कल्पित चाहे जिस चीजको देख सकते हैं। चित्तकी एकाग्रतासे

उसकी शक्ति बढ़ जाती है, यह ठीक है, लेकिन उस बढ़ी शक्तिको भी किसी उपयोगमें लानेसे ही तो उसकी सार्थकता है।

बहुत वर्षों बाद हरि बाबाको उस समयकी स्थिति और घटना पर विचार करते मालूम हुआ; उस समय जो बाधा आई थी, और जिसके प्रभावको वह हटा नहीं सके, उसका कारण यही था, कि शरीरके साथ मन निर्बल हो गया था, और उसकी विचार-शक्ति बहुत क्षीण हो गई थी। मनकी एकाग्रता बिल्कुल निष्फल नहीं कही जा सकती, क्योंकि उसके कारण उनकी बुद्धि तीव्र हो गई थी—विवेक, विचार, स्मृति, धृति सबमें ही तीव्रता देखी जाती थी। बातको वह जल्दी समझ लेते। शायद ध्यानका यही उपयोग भी था।

हरि बाबा जब ध्यानमें पूरी तौरसे लगे थे, उस समय तो ज्ञान प्राप्त करनेके बाहरके सभी रास्ते बन्द थे। किन्तु वैसे वह पुस्तकोंके प्रेमी थे। बाबा गोपालदासको वह अखबार सुनाया करते थे, इसलिए अब वह अपनेको केवल धार्मिक ग्रन्थों तक सीमित नहीं रख सकते थे। साइन्सके प्रतापको भी मानते थे। उन्हें रसायनको झूठी विद्या नहीं, बल्कि रसायनशास्त्र, भौतिकशास्त्र, चिकित्साशास्त्रके विकासकी बातें पढ़ते ख्याल आता था। उसी समय पांवटामें रहते ही समय उन्हें गुरुकुल कांगड़ीके प्रो॰ विनायक गणेश साठे रचित "विकासवाद" ग्रंथ पढ़नेको मिला, जिसमें डार्विनके सिद्धान्तका अच्छी तरह विवेचन किया गया था। हरि बाबाने उसे पढ़ा। देखा, कैसे निम्न कोटिके प्राणियोंसे विकास होते-होते बड़े प्राणी संसारमें आये। उन्हीं प्राणियोंमें बन्दर, बनमानुस होते मानव प्राणी तक पहुँचा। इस सिद्धान्तको जिन अकाट्य युक्तियों और भौतिक आधारों पर सिद्ध किया गया था, उससे हरि बाबाके ऊपर बहुत प्रभाव पड़ा। उन्होंने एक नहीं अनेक बार उस पुस्तकको पढ़ा। जिस वक्त यह पुस्तक निकली थी, इसी समय इन पंक्तियोंके लेखकने भी उसे देखा था। पर, देखा भर ही था, क्योंकि आर्यसमाजी वैदिक धर्मके सच्चे होने तथा उसके प्रचारकी इतनी धुन उसके दिमागमें समाई थी, कि आगरामें इधर-उधरके पन्ने ही देखकर

उसने पुस्तक रख दी। यदि कोई ख्याल आया, तो यही, कि यह वैदिक धर्मसे विमुख बनानेवाली पुस्तक है, इसकी युक्तियोंका खण्डन करना चाहिये। विकासवादपर पहुँचनेमें इस मनोवृत्तिने वर्षों बाधा दी। सचमुच नीमहकीमी खतरे-जान होती है। हरि बाबा किसी आर्य समाजके चक्करमें नहीं आये, और न विज्ञानकी गलत-सलत व्यवस्थासे वेदको विज्ञानसम्मत मानते थे। इस विषयमें उनका मन कोरे स्लेट जैसा था। साठेजीकी पुस्तक उनके लिये दिशा-परिवर्तनका कारण बनी। उसी समय प्रयागमें हिन्दी माध्यम द्वारा प्रचार करनेके लिये "विज्ञान परिषद्" स्थापित हुई। हरि बाबा उसके सदस्य बन गये। अप्रैल १९१५ में जब परिषद्ने पत्रिका "विज्ञान" निकाला, तो वह उसके नियमित पाठक बन गये। "विज्ञान" का इतना नियमपूर्वक पाठ करने-वाला शायद ही कोई पाठक हो। हरि बाबाने शायद ही किसी अंकको ध्यानपूर्वक न पढ़ा हो। उनके लिये अंग्रेजीमें लिखे विज्ञानकी बड़ी-बड़ी पोथियोंका रास्ता उतना खुला नहीं था, लेकिन "विज्ञान" के सँकरे द्वारने उन्हें साइन्सके तत्वोंको हृदयंगम करनेमें बड़ी सहायता की। यदि इच्छा होती, तो वह अंग्रेजीकी कमीको पूरा कर सकते थे, पर मन ही उधर नहीं गया। हिन्दीमें विज्ञान-सम्बन्धी जो भी पुस्तक मिलती, उसे वह मँगा कर पढ़ते।

नाहन—पांवटाके दूकानदारोंमें एकके रिश्तेदार श्री प्रभुदयाल नाजिर नाहनमें रहते थे। वह किसी शादीमें अपने रिश्तेदारके पास आये। हरि बाबासे मुलाकात हो गई। बाबा भी अब पांवटा छोड़नेकी सोच रहे थे। वह नाजिरजीके साथ ही नाहन चले गये। पहाड़पर नातिशीत-नातिउष्ण यह नगरी उन्हें बहुत पसन्द आई। वहाँके काली मन्दिर नाथोंका एक बहुत प्रतिष्ठित मन्दिर और एक तरह राजाका अपना देवालय है। थोड़े ही दिन हुए श्री मोतीनाथ या मुक्तिनाथ उसके महन्त बने थे। वह संस्कृतके अच्छे विद्वान् थे। हरि बाबाका उनसे परिचय हुआ और वह उनसे संस्कृतके कुछ ग्रंथोंको पढ़नेमें लग गये। मठमें काफी पुस्तकें थीं, इसलिए स्वाध्यायका भी सुभीता था। अभी

तक बाबाके शरीरपर पीला वस्त्र और नामके साथ शरण लगा रहा, जो उनके सम्प्रदायके झूठे सम्पर्कको बतला रहा था। यहीं उन्होंने पीले कपड़ेको गेरुएमें रंगा और शरणके आगे आनन्द भी जोड़ दिया। इस प्रकार हरिदाससे हरिशरण होते स्वामी हरिशरणानन्द बन गये। यद्यपि भेस और नाम बदलनेसे साधुओंको सन्तोष नहीं हो सकता था। वह तो फिर भी सम्प्रदायके बारेमें पूछते। पर, गृहस्थोंका समाधान हो सकता था, यह भी दूसरोंकी तरह संन्यासी हैं।

कुछ ही सालों पहले आयुर्वेदके प्रचारके लिए आयुर्वेद महामण्डलकी स्थापना हुई थी, जिसने आयुर्वेद विद्यापीठ और आयुर्वेदकी परीक्षाएँ शुरू की थी। परीक्षा लेकर वैद्य, विशारद और आचार्यकी उपाधियाँ दी जाती थीं। हरि बाबा औषधिके महात्मको समझते थे। वह भी जानते थे, कि जिस साधुको दस-पाँच दवाएँ मालूम हैं, वह बड़े सम्मानपूर्वक सभी जगह पूजित होता है, उसे किसी बातका अभाव नहीं रहता। कुछ दवाइयोंका परिचय तो उन्हें बाबा गोपालदासके सम्पर्कसे ही हो गया था। रसायनमें जड़ी-बूटीके प्रतापको उन्होंने सद्गुरु बाबासे सीखा था। घुमक्कड़ीमें भी जड़ी-बूटियोंके पहचाननेकी ओर उनका ध्यान रहता था। सोचा, यदि चिकित्सामें हाथ लगाना ही है, तो कोई परीक्षा भी क्यों न पास कर ली जाय। रास्तेपर एककी जगह दो आदमी चलें, तो उसमें मन लगता है। बाबाका नाहनके राजज्योतिषी पं० ज्योतिप्रसादसे परिचय हो गया था। उनको भी प्रेरणा दी और दोनों आयुर्वेदकी परीक्षा देनेके लिए तैयार हो गये। पटियालामें परीक्षा-केन्द्र था। दो महीनेका समय मिला। इसमें पाठ्य-ग्रंथोंको उन्होंने पढ़ लिया। जाकर परीक्षा दे आये। स्वामी परिशरणानन्दजी दूसरी श्रेणीमें और ज्योतिषीजी तीसरी श्रेणीमें पास हो गये। अब वह प्रामाणिक वैद्य थे। इसके बाद दो वर्ष तक वह नाहन ही में रहे और यहीं उन्होंने चिकित्सा शुरू कर दी। लेकिन हरि बाबा किसी बातमें हल्के दिलसे प्रवेश नहीं करते। वह चाहते थे, यदि चिकित्साका भी मार्ग अपनाया, तो इसका पूरा ज्ञान और औषधियोंका पूरा परिचय प्राप्त करना चाहिए। चिकित्सा भी रोगियोंसे पैसा ऐंठनेके

लिए नहीं, बल्कि उनको सुखी करनेके लिए करनी चाहिए। वह वैद्यकमें लिखी जिन जड़ी-बूटियोंका उपयोग करते थे, उनमेंसे बहुतोंको पहचानते नहीं थे। रोगके कारणों और शरीर-सम्बन्धी ज्ञान भी अपने सन्तोषका उनके पास नहीं था। सबसे पहले उनका ध्यान आयुर्वेदमें उपयुक्त होने-वाली वनस्पतियोंकी ओर गया, विशेषकर पहाड़ोंमें होनेवाली। उनका परिचय तब तक नहीं प्राप्त किया जा सकता, जब तक उनके पास न पहुँचा जाय। एक बार वह कश्मीरसे कुमाऊँ तकके हिमालयकी सैर कर आये थे। कैलास मानसरोवर भी जा चुके थे, पर उस समय उन्हें नहीं मालूम था, कि मुझे अपना जीवन आयुर्वेद और उसकी औषधियोंके लिए देना पड़ेगा। इसीलिए अब उन्हें फिरसे हिमालय के छाननेकी आवश्यकता महसूस हुई। नाहनके दो वर्ष उन्होंने श्री प्रभुदयाल नाजिरके यहाँ बिताये। नाजिरजीके यहाँ दोनों वक्त बना-बनाया भोजन मिल जाता। वह दो भाई थे। छोटा भाई बारूराम पढ़ता था। घरमें कोई स्त्री नहीं थी, नौकर रसोई बनाता था। स्थान बड़ा अनुकूल था। स्वामीजीके स्वभावसे जितना ही नाजिरजी अधिक परिचित होते गये, उतना प्रेमभाव अधिक बढ़ता गया। जब उन्होंने जानेकी बात कही, तो नाजिरजी उसके लिए तैयार नहीं थे। लेकिन, स्वामीजी बैठे-बैठे रोटी खानेके लिए पैदा नहीं हुए थे।

घुमक्कड़ी—१९१७ ई० का शायद वैशाखका आरम्भ ही था, जब कि स्वामी हरिशरणानन्दने नाहन छोड़ा। परिचित रास्तेको पकड़ कर रेणुका, जुब्बल होते रामपुर (बिसाहर) चले गये। उनको इन नगरों या ग्रामोंसे कोई मतलब नहीं था, बल्कि जहाँ-कहीं भी प्रसिद्ध वैद्यका नाम सुनते, उनके पास जाते। जानते थे, अपने आसपास पैदा होनेवाली जड़ी-बूटियोंका जितना ज्ञान इन पहाड़ी वैद्योंको है, उतना मैदानियोंको नहीं हो सकता। वैद्यके पास जाकर वह एक-दो दिन ठहरते। दो साल तक डट कर जो उन्होंने अध्ययन किया था, उसकी बानगी मिलती, वैद्य भी प्रभावित हो जाता। उससे जो कुछ लाभ प्राप्त होता, उसे ग्रहण करते। पहाड़में यौन स्वच्छन्दताका एक दुष्परिणाम यह हुआ है, कि वहाँ सूजाक

और आतशककी बीमारियाँ मैदानसे भी अधिक हैं। विशेषकर ऐसे स्थानोंमें, जहाँ मैदानी लोगों तथा गोरोंकी आवा-जाही ज्यादा थी। सिरमौरवाले ठाकुरकी कृपासे स्वामीजीको यामी बटी मालूम हो गई थी। वह वैद्योंको उसे बतला देते। "विद्यया विद्या" (विद्यासे विद्या) की बात सच है। स्वामी केवल दूसरेसे विद्या लेना ही नहीं चाहते थे, बल्कि देनेके लिए भी तैयार थे। ऊपरसे सन्यासीका भेस था, इसलिए पहाड़के वैद्य अपनी गोपनीय दवाइयोंको भी बतलानेमें कृपणता नहीं दिखलाते थे। उन्हें बनफशा, ममीरी, सुगन्धवाला, तालिसपत्र, मलाकन्द, तेलियाकन्द, हारिद्रकविष, निर्विषी, अतीस आदि १५-२० वनस्पति-योंका प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त हुआ। इनके अतिरिक्त दो सिद्ध योग—भगन्दर-योग और प्रसूताज्वर-योग भी मिले।

रामपुरसे १२ छोटी-छोटी रियासतों (ठकुराइयों) में घूमते-घामते वह वहाँके अनेक राजवैद्योंसे मिले, जिनके पास कितने ही हस्तलिखित ग्रंथ थे। शिमलासे सुकेत गये। वहाँके राजकीय पुस्तकालयमें चरक, सुश्रुत आदिके साथ कितने ही रसग्रंथोंकी हस्तलिखित पोथियाँ देखीं। बारह-तेरह दिन वहीं रह गये। इस यात्रामें उन्हें इस इलाकेमें होनेवाली कमीला, दारुहरिद्रा, कायफल, हर्रे, बहेरा, अमलतास, तेजपत्र, तेजबल, मदनफल, तुम्बरु आदि १५-२० वनस्पतियोंका परिचय प्राप्त करनेका मौका मिला। उन्होंने देखा, लोगोंके खेतोंमें हर्रे होती हैं, जिससे विशेष विधिसे वह लोग तैयार करते हैं। हर्रेको वृक्षसे तोड़कर इकट्ठा कर लेते हैं। फिर अग्निमें जला देते हैं; लेकिन इस बातका ख्याल रखते हैं, कि लकड़ी जल कर राख न बन जायँ। जब लकड़ियोंकी राख बन जाती है, तो उसकी भौरमें हर्रेको डाल कर दबा देते हैं। यह ख्याल रखते हैं, कि हर्रे जलने न पावे। भौरमें दब कर रस पक कर जम जाता है। तब उसे निकाल कर सुखा लेते हैं। इस तरह बनानेपर हर्रेका रंग पीला हो जाता है। उसका वजन बराबर उतना ही बना रहता है। लम्बी हर्रे पुरवाड़ी हर्रे, काबुली हर्रे, अभय, जीवन्ती आदि मूल्यवान् हर्रे इसी तरह तैयार की जाती हैं। इनमें दोसे पाँच तोलेवाली हर्रे भी होती हैं।

यदि इस तरह बनाई हुई एक हर्रे दो तोलेसे ऊपर हो, तो उसका दाम पाँच रुपया हो जाता था। पाँच तोलेवाले हर्रेके एक दानेका दाम तो पाँच-पाँच छ-छ सौ रुपया लगता है। बारह ठकुराइयों और सुकेतमण्डीके वैद्योंसे मिल कर स्वामीको आयुर्वेदकी अनेक गूढ़ बातोंका पता लगा। कितने ही रस और धातु-भस्म भी बनाते, उन्हें भी स्वामीजीने देखा, और रसग्रंथोंके अध्ययनका भी उन्हें चस्का लग गया। कूपीपक्व रस, रससिन्दूर, चन्द्रोदयके निर्माणका ज्ञान प्राप्त करनेका उन्हें यहाँ अच्छा अवसर मिला।

मण्डीसे स्वामी कुल्लू गये। कुल्लूके बारेमें वह साधुओंसे काफी सुन चुके थे। "जो जाये कुल्लू, हो जाये उल्लू" इसका साक्षात् उदाहरण उनके सामने था। स्त्रियाँ सुन्दरी, उनमें स्वच्छन्दता भी काफी अर्थात् किसीसे प्रेम या ब्याह करनेमें अधिक बाधा नहीं। स्वामीने कितने ही वैरागियोंको जटा-जूट साफ करा हल चलाते देखा। लेकिन, वह उल्लू बननेके लिये वहाँ नहीं गये थे। वह जड़ी-बूटियोंकी खोजमें थे। कूट, अतीस, बालछड़, रेवंदचीनी, कुटकी, शृंगिकविष आदि कितनी ही वानस्पतिक दवाइयाँ कुल्लूसे ही आती हैं। पहाड़ी लोग दूर-दूरसे इन वनस्पतियोंको जमा करके दूकानदारोंको बेंचते हैं, और बदलेमें तेल-नमक, चीनी-गुड़, कपड़ा खरीद कर ले जाते हैं। स्वामी समझते थे, ये औषधियाँ कुल्लूमें ही होती हैं, पर बेंचनेवाले पहाड़ियोंसे पूछनेपर मालूम हुआ, कि ये चीजें हम लाहुल और स्पितीके इलाकेसे लाते हैं। स्वामी स्पिती नहीं पहुँच सके। मणिकरन गये और वहाँ उन्होंने अतीस, शृंगिकविष और कुटकी आदिको उनके स्वाभाविक रूपमें देखा। फिर कुल्लू लौट कर लाहुलकी ओर चले। मनालीसे जा व्यासकुण्डके गरम चश्मेको भी देखा। फिर रटंग जोत चढ़ कर ऊपर सूर्यकुण्डके पास पहुँचे। किसी पहाड़ी जानकारको साथ ले गये थे। उनसे उन्हें रेवन्द-चीनी, निर्विषी, पुष्करमूल, मीठातेलिया, अतीस, कुटकी आदिको उगा दिखलाया। इसीसे व्यास नदी निकलती बतलाई जाती है। वैसे व्यास किसी एक कुण्डकी नहीं, बल्कि अनेक हिमानियोंसे गल कर आये पानीकी धाराओंसे

बनी है। बहुत ऊँची और सर्द जगह है, इसलिए व्यासऋषिके नामसे इस कुण्डपर पहुँचनेवाले श्रद्धालु बहुत कम ही होते हैं। लोग मजेमें व्यास नदीको व्यास ऋषिके नामसे जोड़ना चाहते हैं। उन्हें यह मालूम नहीं, कि संस्कृतमें इसका नाम मूलतः व्यास नहीं विपाशा है।

रटंग जोत् पार कर स्वामी लाहुलके बर्फानी प्रदेशमें पहुँचे, और भागा और चन्द्राके संगमको देख ऊपरकी ओर केलंग जा पहुँचे। केलंगमें लाहुलका तहसीलदार रहता था। वहीं उन्हें होशियारपुरके व्यापारियोंका एक काफिला मिल गया। वह लोग यारकन्द जा रहे थे। उनके घोड़ों और खच्चरोंपर मनियारीका सामान, चीनी आदि लदा हुआ था। मालूम हुआ, इसे वह यारकन्द-काश्गरमें बेंच कर उसके बदलेमें रेशम और चरस लायेंगे। हमारे सन्त लोग जितनी चरस चिलमपर उड़ाते थे, वह सबकी सब यारकन्दसे आती थी। कुछ काफिले पहले चले गये थे। यह आखीर काफिला भादोंके शुरू में जा रहा था। व्यापारियोंने कहा—"महात्मा, हमारे साथ चलो। तुम्हें यारकन्द देश दिखला लायेंगे। यहाँसे कुछ सप्ताहोंका रास्ता है। सर्दियोंसे पहले ही हम लौट आयेंगे। जो कुछ रूखा-सूखा हम खाते हैं, वह आपके लिए भी हाजिर रहेगा।" इन पंक्तियोंके लेखकके लिए कोई ऐसा कहता, तो उसे वह अपना भाग्य खुला समझता, खासकर उस आयुमें। हरेक तरुणमें घुमक्कड़ीका बीज कुछ न कुछ तो रहता ही है। फिर स्वामीजी नाहनके पण्डित गरुड़ध्वज शास्त्रीसे सुन चुके थे, कि वैदिक कालमें सोम यारकन्दसे ही आता था, और उसीके पत्तोंका मद चरस है, यारकन्दवाले इसे होम कहते हैं। व्यापारियोंसे पूछनेपर उन्होंने बतलाया, कि चरसका पौदा भाँग जैसा ही होता है, पत्ते भी वैसे ही होते हैं। हाँ, उसमें लस ज्यादा होती है। पत्तेको मल कर उसी लसको इकट्ठा करते हैं, जिसे हम चरस कहते हैं। इसका मतलब हुआ, कि हमारे सन्त उसी सोमको चिलमपर पीते हैं, जिसे हमारे वैदिक पूर्वज भाँगकी तरह कूट-छान मधु और दूध मिला कर चषकके चषक पीते थे। दोनोंमें नशा तो एक ही तरहका आता है, लेकिन स्वादका जहाँ तक सम्बन्ध है, हम समझते हैं सप्तसिन्धुके आर्योंके

पीनेका ढंग अधिक अच्छा था। बूटियोंके पीछे तो स्वामी पड़े ही हुए थे। सोचा, चलो इसी बहाने सोमकी भूमिमें सोमको भी उगा देख आयें।

काफिला चला। कोलन होते वह लोंगलाचाकी जोत्के पास पहुँचा। वस्तुतः इन दो जोतोंका नाम लोछेन और लांछुग है, जिसका अर्थ है बड़ी जोत्, छोटी जोत्। पर, तिब्बती शब्दका हमारे लोगोंको कोई अर्थ नहीं था, उन्होंने इन्हें लोंगलाचा बना दिया। लाचासे उनका मतलब इलाइचीसे है। हर जगह अजनबी हाथोंमें नामोंका इस तरह बिगड़ना जोत् पार करना था, जो १५-१६ हजार फुटसे कम ऊँची नहीं थी। सबेरे जोत्की ओर काफिला चलने लगा। चढ़ाईमें दम क्यों न फूलता? हवा बहुत पतली थी। इसी समय व्यापारियोंने पिछले सालकी घटना बतलाई। स्वामीकी तरह वह एक साधुको अपने साथ ले जा रहे थे। होशियारपुरके दो काफिले थे। एक आगे निकल गया, और दूसरा आजकी तरह पिछड़ा हुआ था। पड़ाव काफी दिनसे ही डाल दिया गया था। अभी दिनके दो ही तीन बजे थे। साधुने कहा, अभी दिन बहुत है, मैं अगले पड़ाव पर दूसरे काफिलेके साथ जाकर रहूँगा। व्यापारियोंने बहुत मना किया, यहाँ दो पहर बाद बड़ी तेज हवा चलती है, सर्दी और बर्फका डर है।" लेकिन, साधु दुनियादारोंकी बात क्यों मानने लगा? उसके पास एक कम्बल था, और कमरमें लँगोटी लगी हुई थी। सर्दी-गर्मी सहनेका अभिमान था। वह आगे चल पड़ा। जितना ही ऊपर चढ़ने लगा, उतने ही पैर भारी होने लगे। जोत्के ऊपर पहुँचनेसे पहले ही सूर्य अस्ताचलके पीछेकी ओर हटने लगे। हवा बड़ी तेज हो गई। बाबाके हाथ-पैर बर्फ बनने लगे। चलना उनके बसकी बात नहीं रही। हवासे बचनेके लिए एक पत्थरकी आड़में कम्बल ओढ़ कर बैठ गये। फिर क्या था, सर्दीने उन्हें कुछ समयमें पूर्ण समाधिस्थ कर दिया। अगले दिन सबेरे जब काफिला वहाँसे गुजरा, तो देखा, बाबा वहाँ उसी तरह बैठे हैं, आँखें कौवे निकाल ले गये हैं, शरीरका वही भाग दूसरे जन्तुओंके भक्ष्य बननेसे बचा था, जो कि बर्फमें दब गया था।

स्वामीने अपनी आँखोंसे उस साधुके शरीरावशेषको वहाँ देखा, तो फिर उनकी हिम्मत सोमकी भूमि देखनेकी नहीं रही। व्यापारियोंने कुछ खानेकी चीजें दीं, और वह केलंग लौट आये। केलंगसे गुन्दलाके ठाकुरों के काठके महलको देखा, फिर चन्द्रा और भगाके संगमकी ओर गये, जहाँ दोनों नदियाँ मिलकर चन्द्रभागा या चनाबका नाम लेती हैं। नदी पार करनेके लिये झूला था, इस समय त्रिलोकनाथका मेला लगा हुआ था। स्वामी अपने साधुओंसे सुन चुके थे, कि वहाँ त्रिलोकनाथ महादेवका दुर्लभ दर्शन है। लेकिन, देखा, वहाँ का पुजारी लामा है, दर्शनार्थियोंमें भी अधिकांश बौद्ध हैं। खैर, हिन्दू बौद्धका इतना अन्तर भी नहीं है, इसलिये यदि दोनोंके एक देवता हों, तो अचरज नहीं। वस्तुतः त्रिलोकनाथ, लोकनाथ हैं। अवलोकितेश्वर बोधिसत्वको बौद्ध लोकनाथ या लोकेश्वर भी कहते हैं। शायद यही नाम सुन कर साधुओं को महादेवकी भ्रान्ति हुई।

मेला देखकर स्वामी आगे बढ़े। देखा इस इलाकेमें गर्दनतोड़ ज्वर बड़े भयंकर रूपमें फैला हुआ है। लोग बुखारसे मर रहे थे। पंजाब-सरकारने जानकारी प्राप्त करने और शायद कुछ सेवा करनेके लिए भी वहाँ डाक्टरोंका एक दल भेजा था। यह दल गाँव-गाँवमें फिर रोगके कारणका पता लगा रहा था। लाहुल अत्यन्त सर्द स्थान है। साधारण लोग नहानेकी बात तो दूर, मुँह भी नहीं धोते। ऊपर घरके भीतरके धूएँकी कालिख लग जाती है। सभी मालूम होते, जैसे इंजनके ब्वायलरमें कोयला झोंखनेवाले आदमी हैं। मेलेमें देखा, वही लाहुली स्त्रियाँ और उनके बच्चे अप्सराओं और देवताओंकी तरह सुन्दर गुलाबी रंगके दिखाई पड़ रहे हैं। उन्होंने आज देवताके दर्शनके लिए स्नान कर लिया था, मुँहपरसे मैलकी परत धुल गई थी। वस्त्र भी साफ-सुथरे पहने हुए थे। मन्दिरका एक पुजारी लामा बीमार था। उसके शरीरमें दर्द हो रहा था। स्वामीको कुचलेका योग मालूम था, जिसकी गोलियाँ उनके पास थीं। जिस वैद्यने इस योगको बतलाया था, उसने कहा था, कि कई पीढ़ियोंसे हमारे घरमें यह गोलियाँ बनती आ रही हैं। पहले दिनकी गोलियोंसे लामाको लाभ

हुआ और पाँच-छः दिनमें तो वह चंगा हो गया। उसे १५ दिनकी दवाई और दे दी। चलते समय लामाने एक पट्टू और बीस रुपये दिये। सचमुच ही यात्रीके लिए वैद्यक विद्यासे बढ़ कर अच्छा सम्बल कोई नहीं हो सकता। दूसरा पाथेय तो खतम भी हो सकता है लेकिन यह अखुट है।

पांगी—स्वामी अब भारतके सबसे प्रकृति-रमणीय देशमें बिचर रहे थे। चन्द्रा और भागा जहाँ हिमानियोंसे निकलती है, वहाँसे उनके संगम तथा कुछ मील नीचे तकका इलाका लाहुल कहा जाता है। लाहुलके खतम होते ही पांगीका इलाका शुरू हो जाता है। कनौरमें भी पांगी एक गाँव है, और वह भी सुन्दर देवदारोंसे भरे पहाड़में है। पर, यह पांगी गाँवका नहीं, बल्कि पूरे इलाकेका नाम है। हिमाचल-प्रदेशके चम्बा जिलेमें आजकल यह पड़ता है। अब भी यातायातकी कठिनाइयोंके कारण वहाँ कोई सैलानी बिरला ही पहुँचता है। इसके बारेमें कुछ पंक्तियाँ यहाँ कुछ कहना आवश्यक है।*

कनौरकी पांगी सतलज-उपत्यकामें जो देवदार और नेवजोंके बीचमें बसा एक बड़ा ही सुन्दर गाँव है, लेकिन चम्बाकी पांगीका सौंदर्य अद्भुत है। चन्द्रभाग यहाँ बहुत नीची खड्डमें बहती है, जिसके किनारे कितनी ही चट्टानें उसी तरह खड़ी हैं, जैसे चिनीके नीचे सतलुजके परले पार शोङ्टङ्के सामने। कहीं-कहीं तो वह दो हजार फुट ऊँची पत्थरकी दीवार-सी खड़ी मालूम होती है। यहाँकी अपेक्षा निचली पहाड़ियोंकी ढलानोंपर घाससे भरी सुन्दर चरागाहें तथा देवदार और कैलके घने जंगल हैं, जिनके पीछे १८००० से २१००० फुट ऊँचे सनातन हिमवाले शिखर अपनी शोभासे दर्शकको चकित करते हैं। कुछ-कुछ मीलोंपर उपत्यका खुली मिलती है, जहाँ भूतत्वीय युगमें सरोवर रहे होंगे। यही पांगीके थोड़े से और एक दूसरेसे काफी दूर बसे गाँव हैं। रास्ता सँकरा और खतरनाक है, जिन्हें पहले यहाँके लोग पार करनेकी हिम्मत कर सकते थे। कहीं-कहीं त्राँगरी जैसे खतरनाक सँकरे लकड़ीके पुलसे आदमीको जाना

*"हिमाचल प्रदेश" भाग ७ अध्याय १

पड़ता था। पांगी इलाकेकी सैचू, परमौर, हुनान और सुरालनालाकी उपत्यकाएँ बड़ी सुन्दर हैं। सभी धाराएँ जांस्कर श्रेणीसे निकल कर चन्द्र-भागामें मिलती हैं। मुख्य उपत्यकामें भिलनेके समय ये छोटी उपत्यकाएँ सँकरी हो जाती हैं, लेकिन ऊपरकी ओर वह काफी चौड़ी हैं, जहाँ कितने ही गाँव बसे हुए मैं। हरेक नाला (धारा) के उद्गमके पासकी भूमिमें तिब्बती भाषाभाषी (भोट) लोग रहते हैं, इसीलिए स्थानों को भोटोरी कहते हैं।

पांगी और लाहुलका जाड़ा बड़ा कठोर होता है। अक्तूबरके आरम्भमें उपत्यकाके निचले भागमें हिमवृष्टि होने लगती है, लेकिन दिसम्बर तक वह पिघलती रहती है। इसके बाद मार्च-अप्रेल तक सारी उपत्यका बर्फकी मोटी तहसे ढँकी रहती है, और बाहरकी दुनियासे ही नहीं बल्कि एक गाँवसे दूसरे गाँवका भी यातायात बन्द हो जाता है। इस समय लोग अपने घरोंमें रस्सी बँटने, सूत कातनेका काम करते रहते हैं। पशुओं और प्राणियोंके भोजनका इन्तिजाम पहले हीसे कर लेना पड़ता है। वसन्त आकर बर्फको पिघलाने लगता है। उस समय बर्फको हटा वह अपने खेतोंको बोते हैं। यहाँ मुख्यतः गेहूँ, जौ, फुलन, ब्रे, ब्रेज, एलो और मसारकी खेती होती है। आम तौरसे दो फसलें होती हैं—जौ-गेहूँ सरदमें बोये और जून-जुलाईमें काटे जाते हैं, फिर खेतोंमें फूलन या ब्रेज बो दिया जाता है, जिसे अक्तूबरमें काटा जाता है।

स्वामी लाहुलसे चन्द्रभागाके किनारे-किनारे पांगीमें पहुँचे। लाहुलका भी निचला भाग चम्बामें पड़ता है। पांगीमें तहसील है। वहाँ १५-२० दूकानें भी थीं। वहाँ एक अच्छे प्रसिद्ध वैद्य थे। स्वामी उन्हींके पास जाकर ठहरे। घनिष्ठता होनेमें देर नहीं लगी। वैद्यको वहाँकी जड़ी-बूटियोंका काफी पता था। उनके साथ जाकर रासना (काबुली किसमिस) की जंगली बेल देखी। असली और बाजारी तालिसपत्रके बड़े वृक्ष भी जंगलमें थे। पहाड़के ऊपरी भागमें कुष्टका भी एक पौदा मिला। वैद्यने बतलाया, कि ये वस्तुतः कुष्टवार-भद्रवाहके इलाकेमें होता है, जो यहाँसे २०-२५ मील दूर जम्मू रियासतमें है। वहाँ ही नीलमकी खान भी है।

पांगीके कितने ही लोग नीलमकी चोरी करने उधर आया करते हैं। इन्हीं वैद्यसे स्वामीको उपदंश-धूमीका नुस्खा मिला। (देखिये परिशिष्ट ४)

भद्रवाह—भद्रवाह किसी समय एक स्वतन्त्र रियासत थी, जो पीछे जम्मूके पेटमें चली गई। पुराने राज्योंकी राजधानियोंमें वैद्य और पण्डितोंके परिवार हुआ करते हैं। स्वामी पांगीसे अब उधर चले। इस यात्रामें जगह-जगह हस्तलिखित पुस्तकोंको देखते पुराने वैद्योंके सत्संगसे आयुर्वेदके रसशास्त्रसे स्वामीका काफी परिचय हो गया था। उन्हें यह भी मालूम था, कि आयुर्वेद, विशेषकर रसशास्त्रके अभी भी बहुत से ग्रंथ अप्रकाशित हैं, जिनमें ऐसी बातें हो सकती हैं, जो प्रकाशित ग्रंथोंमें नहीं मिलतीं। जड़ी-बूटियोंकी खोजके साथ अब उन्हें इन ग्रन्थोंकी खोजका भी चस्का लग गया। पांगीसे कश्तवार-भद्रवाह ६०-६५ मीलसे ज्यादा नहीं था। दुर्गम पहाड़ी रास्ता था। ऐसी जगहमें चलना पड़ता था, जिसपर पेड़पर चढ़नेमें कुशल आदमी ही जानेकी हिम्मत कर सकता जा। लेकिन, वह स्वामीके लिए कोई भयंकर चीज नहीं थी। वह भद्रवाहमें राजवैद्यके पास पहुँचे। पासमें एक मन्दिर था, वहीं ठहर गये। बातचीत करनेपर मालूम हुआ, कि यह सिर्फ रमताराम नहीं हैं, बल्कि इनका आयुर्वेदमें काफी प्रवेश है। वैद्य भी प्रभावित हुए, और उनकी मेहरबानीसे स्वामीको पचासों हस्तलिखित ग्रन्थ देखनेको मिले, जिनमें "रसपद्धति", "रससार", "रसहृदय", "रसचूड़ामणि", "रसरत्न समुच्चय", "रसकामधेनु", "लोह पद्धति", "त्रिंशतिभाव" भी थे। "रस कामधेनु" अपूर्ण थी। "चरक" "सुश्रुत", "अष्टांग हृदय", "हारीतसंजिता" आदिके भी कितने ही हस्तलेख मौजूद थे। वैद्यजीके पास "रस कामधेनु" का एक ही पाद था। उन्होंने ही बतलाया, कि जम्मूके राजवैद्य पं० भगवानदासजीके पास इस ग्रन्थके चारों पाद हैं। रास्ता रास्तेको बतलाता है। कुठौवामें किसी समय एक राजधानी थी वहाँके राजवैद्यके परिवारमें भी काफी हस्तलिखित पुस्तकें हैं, यह भी उन्होंने बतलाया। स्वामी बारह दिन भद्रवाहमें रहे। वहाँके जंगलोंमें घूम कर, पुष्करमूल, कुष्ट, खुरासानी

अजवाइन, बिलाडोना, डेजीटेलिस, छोटा श्रृंगिक, विषमा, हत्थाजोड़ी आदि बहुत-सी वनस्पतियोंका परिचय प्राप्त किया।

वहाँसे चल कर कुठौवाके वैद्य श्री भीमसेन और दूसरोंसे मिले। एक ही घरके तीन घर हो गये थे। वहाँ कूपीपक्वरस बन रहा था। बड़ा अच्छा मौका मिला था। स्वामीको रस बनानेकी विधि आँखों देखनेको मिली। वह वहाँ १५ दिन रहे, वैद्योंके पास मौजूद हस्तलिखित ग्रन्थोंको देखते रहे। उनमें कोई ऐसा नहीं था, जिसे दूसरी जगह न देखा हो। आसपासके जंगलोंमें गम्भारी, पाटला (स्यौनाक), अरणी आदि तथा दशमूल-सम्बन्धी वनस्पतियाँ—चतुष्पर्णी, बलाचतुष्टय, ब्राह्मी, मण्डूकपर्णी, जलनिम्ब, जलपिप्पली आदि बीसों वनस्पतियोंसे परिचय प्राप्त किया। वैद्योंसे कुछ अप्रकाशित योगोंको भी प्राप्त किया, इन्हींमेंसे संखियाको द्रव बनाना भी था।

उस समय वहाँ टाइफाइड (मंथरज्वर) फैला हुआ था। वैद्य लोग एक कढ़ा बना कर देते थे। (देखें परिशिष्ट ७)।

जम्मू—कुठौवासे स्वामी जम्मू पहुँच वहाँके राजवैद्यसे मिले। उनके यहाँ धातुकी कई भस्में बन रही थीं। वैद्य बड़े पण्डित थे। सरकारकी ओरसे औषधियोंके बनानेके लिए आर्थिक सहायता मिलती थी। पुरानी परिपाटीसे औषधि-निर्माणको सीखनेका इससे अच्छा मौका कहाँ मिल सकता था। वहीं काफी समय ठहरे। राजवैद्यको विश्वस्त पाकर सभी विधियाँ सीखते रहे।

स्यालकोट—१९१६ ई० का जाड़ा आरम्भ हो रहा था। स्वामीने सोचा, चलो स्यालकोट चलें, और अपनी सीखी हुई विद्याका प्रयोग करें। उन्होंने जाड़ोंके चार महीने वहीं बिताये और इस समय अच्छी तरह चिकित्सा करते रहे। वहाँ उन्हें दौलाशाहके चूहोंको देखनेका मौका मिला। दौलाशाहकी कब्रको पूजनेके लिए हिन्दू-मुसलमान, विशेषकर औरतें होड़ लगाती हैं। जिनके बच्चे नहीं होते, वह मानता मानती हैं कि दो लड़के हुए तो मैं एक लड़का दौलाशाहकी दरबारमें चढ़ा दूँगी। हजारों मानता माननेवाले जहाँ हों, वहाँ दर्जनोंकी मनोकामना पूरी होना

मुश्किल नहीं। फिर वह अपने एक लड़केको वहाँ चढ़ा देते। मजारका साईं बच्चेको ले उसके सिरपर लोहेका कनटोप चढ़ा देता, जिसके भीतर सिर बढ़ने नहीं पाता। सिरके विकास हीपर तो सारा शरीरका मानसिक विकास अवलम्बित है, विकास रुक जाता। बच्चोंकी बुद्धि उतनी ही रह जाती है, जितनी शैशवमें। इन्हें लोग दौलाशाहके चूहे कहते। स्वामीजीने बीसियों चूहोंको माँगते-फिरते देखा। पंजाबमें न जाने कितने दिनोंसे सैकड़ों बच्चोंका जीवन इस तरह बरबाद किया जा रहा है। अंग्रेजी सरकार यह सब टुक-टुक देखती रही, लेकिन उसने कभी उसमें दखल देना पसन्द नहीं किया।

कश्मीर—१९१७ ई० के चैतका महीना आया। गर्मी बढ़ने लगी। स्वामीने अब कश्मीरकी ओर सैर और अनुसन्धान करनेका निश्चय किया। स्यालकोटसे बेलाबिजवात और फिर अखनूर होते कालीधार पर्वत-मालाके भीतर घुसे। गाँव-गाँव घूमते-फिरते, राजौरी, पुणछ, कोटली आदिमें वहाँके वैद्योंसे मिलते, वनस्पतियोंका ज्ञान प्राप्त करते आगे बढ़े। जेठमें वह बारहमूलामें थे। उन्हींकी तरह और भी कितने ही साधु जड़ी-बूटियोंकी खोजमें पीर-पंजाबकी जोत्में घूम रहे थे। उनमें एक मलँग (मुसलमान) साधु ऐसा था, जो एक मासा संखिया रोज खा जाता था और अत्यन्त शीतल इलाकेमें एक ही चोगा पहने घूमता रहता था। स्वामीने देखा कि इन साधुओंको भी वनस्पतियोंका ज्ञान बहुत कम होता है। वह उतना भी नहीं जानते, जितना कि वैद्य जानते हैं। इनमेंसे कितने ही रसायनके पीछे पड़े, सुन-सुना कर ताँबा-चाँदी-पारा मारनेकी बूटियों-की तलासमें घूम रहे थे। रसायनमें चाहे यह सदा असफल ही रहे हों, पर इनके अनुसन्धानसे रसायनशास्त्र और चिकित्साशास्त्रको लाभ पहुँचा है, इसे कौन इन्कार कर सकता है? स्वामी हरिशरणानन्द अब उस तरहके भ्रममें नहीं थे। वह बुद्धिवादी हो गये थे। तजर्बेने बतलाया कि यह सब फजूलकी बातें हैं। दो वर्षकी घुमक्कड़ीमें ही उन्होंने आयुर्वेद-सम्बन्धी इतना ज्ञान प्राप्त कर लिया, जितना दस वर्ष पढ़ कर नहीं पा सकते थे। वह चार-छः योग देकर भी किसी वैद्यसे एक अनुभूतयोग ले लेनेकी

स्थितिमें थे। इन योगोंको गुप्त रखना वह गलत समझते थे। जैसे साइन्सका हरेक आविष्कार हरेकके लिए खुला है, वैसे ही आयुर्वेदको हरेक आविष्कार या योगको भी खुला कर देना चाहिए। अपने ज्ञात योगोंको जिस उदारताके साथ वह बतलानेके लिए तैयार थे, उसको देखकर वैद्य भी उनसे संकोच छोड़ कर अपनी बातें बतलाते। स्वामीके झोलेमें ३०-४० अनुभूत दवाइयाँ बराबर रहतीं। जहाँ भी जाते, एक अनुभवी चिकित्सकके रूपमें उनका आदर होता। उन्हें पैसोंके लिए किसीके सामने हाथ पसारनेकी जरूरत नहीं थी।

श्रीनगर पहुँचे। जब चुटकी बजाते वैद्योंपर वह अपना प्रभाव डाल सकते थे तो उन्हें मठ, मन्दिर या धर्मशालामें ठहरनेकी क्या जरूरत थी? उनके ज्ञान और भगवा वस्त्र दोनों वैद्यको आकृष्ट करते और वह इनसे कुछ सीखनेके लिए लालायित हो जाता। वैद्योंके सत्संगके अतिरिक्त अपने डेढ़ महीनेके निवासमें उन्होंने कई कश्मीरी पण्डितोंके परिवारमें चिकित्सा की। पण्डितोंके घरोंमें हस्तलिखित पुस्तकें थीं, उन्हें भी देखने और पढ़नेका उन्हें मौका मिला। शायद किसी आयुर्वेदके ग्रन्थोंको वह नहीं पढ़ सकते थे। उनकी जानकारी अब बहुत बढ़ गई थी। वह आयुर्वेदके सिद्धान्तोंपर वैद्योंसे बहस करने लगे। साइन्सके रसायनशास्त्र, भौतिकशास्त्र, शरीर-रचनाशास्त्र आदि ग्रन्थोंका भी उनका अध्ययन साथ-साथ चल रहा था। इसके फलस्वरूप आयुर्वेदके कितने ही सिद्धान्तोंपर उन्हें आशंका होने लगी। वैद्योंके सामने रखते तो वह उनका उत्तर नहीं दे पाते। इसका अर्थ यह नहीं कि आयुर्वेद-सम्बन्धी नास्तिकता बढ़नेसे उन्हें आयुर्वेद-पद्धति और उसकी अनुभूति औषधियोंपर अविश्वास हो चला।

अमरनाथ-यात्रा—सावनका महीना आया। लोग अमरनाथकी यात्रापर जाने लगे। अपने वैद्य-मित्रसे सुना कि अमरनाथके मार्गमें भी बहुत तरहकी जड़ी-बूटियाँ होती हैं। वैद्य भी साथ हो लिये और वह यात्राके लिए चल पड़े। अब वह कमण्डलु हाथमें लिये अलफी पहने

साधु नहीं थे। दोनोंके लिए एक छोलदारी थी, दो आदमी और उनके अतिरिक्त चार कुली सामान उठानेके लिए थे। पहलगाँवमें अमरनाथके यात्री मिल गये। चन्दनवाड़ी, शेषनाग, फिर पंचतरणी नदीके किनारे आखिरी पड़ावपर पहुँचे। नदीमें घुटनेसे अधिक पानी नहीं था, लेकिन धार तेज थी। साहस करके कितने ही लोग अपने ही पार हो रहे थे। निर्बलोंको कश्मीरी मजूर दो पैसा ले पीठपर लाद कर उस पार छोड़ आते। एक पुरबिया बुढ़िया थी। उसके झोलेमें खानेका पकवान बँधा हुआ था। मजूर मुसलमान थे। उन्होंने कहा—"माई, आ तुझे भी पार छोड़ आवें। मुसलमानके हाथ लगनेसे तो बुढ़ियाका सारा पकवान भ्रष्ट हो जाता। उसे यह मालूम नहीं था कि अपनी विद्याके लिए सारे भारतमें प्रसिद्ध शारदा पीठके काश्मीरी पण्डितोंने इस छूतसे बचनेका बड़ा अच्छा रास्ता निकाल लिया है। ऊनी कपड़ेमें बाँध कर वह कच्चा-पक्का कोई भोजन मुसलमान मजूरके हाथमें दे देते हैं। पवित्र ऊन छूत लगने नहीं देता। बुढ़ियाने बिस्तरा तो मजूरोंको दे झोला कन्धेपर लटकाये पंचतरणी पार करने लगी। धार तो तेज थी ही। बीचमें पहुँचनेपर पैर उखड़ गये। झोला-सहित वह चली। सँभलनेकी कोशिश करने लगी तो कन्धेसे झोला निकल गया। मजूरोंने बहनेसे बुढ़ियाको बचा कर किसी तरह पार पहुँचाया। बुढ़िया गाली देने लगी—"तूने मुझे निकाला क्यों? हाय मेरा झोला चला गया।" वस्तुतः झोलेमें पकवान ही नहीं था, बल्कि उसीमें उसकी जमा पूँजी भी थी। पैसे बिना परदेशमें कैसे गुजर होता? वह बहुत रो रही थी। लोगोंने चन्दा करके उसे कुछ पैसे दे दिया, तब वह चुप हुई।

अमरनाथका अन्तिम पड़ाव आया। सर्दीका क्या पूछना? राजाकी ओरसे मुफ्त लकड़ियोंका प्रबन्ध था, जो सबसे बड़ा अवलम्ब था। रात बिता सबेरे चाय-पानी करके लोग चलनेके लिए तैयार हो गये। अमरनाथ गुफा तक पहुँचनेके दो रास्ते थे। एक पहाड़के किनारे-किनारे घूम कर और दूसरा उसे लाँघ कर। स्वामीने ऊपरका ही रास्ता लिया। डेढ़-दो मीलकी चढ़ाई थी। पीठपर बर्फ पड़ी हुई थी। उतराईमें भी

गुफाके दरवाजे तक बर्फ ही बर्फमें चलना था। कैलास-मानसरोवर और दूसरी बड़ी-बड़ी जोतोंके लाँघनेवालोंके लिए यह क्या चीज थी? श्रीनगरसे वह लोहा लगे बल्लमको अपने साथ लाये थे। जो बर्फमें बड़े कामका सिद्ध हुआ। उतराईमें वह बर्फमें धँस कर फिसलनेसे बचाता था। अब सूर्यकी किरणें श्वेत पर्वतमालाओंपर फैली हुई थीं, जिसमें हिमके स्फटिक हजारों दर्पणोंमें किरणोंके प्रतिबिम्बकी तरह चमक रहे थे। जहाँ देखें उधर केवल बर्फ ही बर्फ नजर आ रही थी। उतराईके लिए आदमियोंने बर्फ काट कर सीढ़ियाँ बना दी थीं, जिसकी बगलमें बिना कटी बर्फ भी थी। नौजवान कम्बलकी तह बना कर उसे कपड़े या रस्सीके सहारे कमरमें बाँध उसीपर बैठ जाते। फिर बर्फपर हाथ रख दूसरे हाथमें बल्लम ले फिसलते मालूम होता था, हवामें उड़ते जा रहे हैं और चंद ही मिनटोंमें वह अमरनाथ गुफाके द्वारपर पहुँच जाते। स्वामी कुछ देर तक उसका तमाशा देखते रहे। वैद्यजीने कहा—देखते क्या हैं, यह बल्लम तो हम इसीलिए लाये थे। जैसे तैरनेवालेको पानीसे डरनेकी जरूरत नहीं, उसी तरह यहाँ भी फिसलनेसे डरनेकी जरूरत नहीं। वैद्यजीको तैयार देखकर स्वामी भला डरपोक कैसे बनते। उन्होंने भी उसी तरह कम्बल बाँधा और ढलुआँ बर्फपर बैठ गये। जोर लगानेकी जरूरत ही नहीं थी, जरा-सा इशारा करके आगे हिलनेकी देर थी कि रपट पड़े। रपट पड़नेके बाद तो मालूम हुआ कि डरकी बात फजूल थी। हाथका बल्लम कम्बलके आसनको घुमानेमें घोड़ेकी लगामका काम दे रहा था। जिधर घुमाना हो उससे उल्टी दिशामें बल्लमको लगा दो, चाहे जैसे बर्फपर रास्ता बदलते चले चलो। रुक-रुक कर चलना हो तो बल्लमको आगे अड़ाते चलो। दोनों गुफाके दरवाजेपर पहुँच गये।

स्वामीने हिमालयके बहुत बड़े भागको देखा था लेकिन इतनी बड़ी कन्दरा उन्होंने कहीं नहीं देखी थी। यह ३०-४० फुट ऊँची, उतनी ही गहरी और लम्बी-चौड़ी थी। उसके भीतर १०-१२ फुट ऊँचा बर्फका स्वाभाविक पिण्ड उभरा हुआ था। उसीपर लोगोंने शिवलिंग बनाया था, जिसे बहुत गौरसे देखनेपर ही समझा जा सकता था। यही अमरनाथ

थे। इन्हींके दर्शनके लिए लोग आते थे। गुफाके भीतर अबाबील, कबूतर और कौवेके भी दर्शन हो रहे थे। पक्षी ही ठहरे, कहींसे आ जाते होंगे, लेकिन यात्रियोंको यह भी एक चमत्कारकी बात मालूम होती थी। यात्राका आनन्दतो नगद था, बाकी स्वामी हरिशरणानन्दको अब न भोले बाबापर विश्वास था, न उनके इस लिंगपर।

लौटते वक्त उन्होंने जड़ी-बूटियोंका निरीक्षण-परीक्षण किया। शेषनाग, चन्दनबाड़ीमें नाना प्रकारकी बूटियाँ भरी पड़ी थीं। घुग्गीबान जैसी कुछ तो सिर्फ वहीं देखनेको मिलीं। रसग्रन्थोंमें जिन ६४ वनस्पतियोंका उल्लेख है, उनमेंसे वहाँ एक भी देखनेको नहीं मिली। हो सकता है, वहाँ हो और ग्रन्थकारोंने उनकी जो रूपाकृति बताई है, उसीमें कुछ गलती हो। अतीस, शृंगिक, निर्विषी आदि जो यहाँ दिखाई पड़ीं, उन्हें वह पहले ही देख चुके थे। श्रीनगर लौट कर वह गुलमर्ग भी देख आये। अब कश्मीर छोड़नेका निश्चय किया।

पेशावर—स्वामी लौट कर बारहमूला हो रावलपिंडी पहुँचे। वहाँ वैष्णवदास भी मिल गये। वह अपनी जन्मभूमि जा रहे थे। बोले—चलो पेशावरकी सैर करा दें। स्वामी भी उनके साथ रेलपर बैठ पेशावर जा पहुँचे। पेशावरमें वह बाबा परशुरामदासके मठमें ठहरे। बाबा वैष्णवदासकी अपनी सगी विधवा बहिन तथा कितने ही और सगे-सम्बन्धी खत्री वहाँ रहते थे। स्वामीका भी परिचय बढ़ा। फिर यह कोरे साधु नहीं, बल्कि गुनी भी थे। मन्दिरों-मठोंमें भक्तोंकी भीड़ हुआ ही करती है। साधु रामायण या और कोई कथा सुनाया करते थे। महिला भक्तोंने सुना तो वैष्णवदाससे कहा—कि स्वामीजीसे हमें कथा सुनवायें। एक बार कथा बैठा देनेपर उसे पूरा किये बिना उठा नहीं जा सकता था। कथा समाप्तिपर भोग लगता और उसमें सैकड़ों रुपया दक्षिणा मिलती, पर स्वामी वहाँ उतना दिन ठहरना नहीं चाहते थे। लोग बादाम, पिस्ता, किसमिस तथा दूसरे ताजे मेवे दे जाया करते थे। स्वामीजी तो इस फिकरमें थे कि देखें वहाँ क्या जड़ी-बूटियाँ होती हैं, कैसा प्रदेश है। एक दिन वैष्णवदास दर्रा खैबरमें लण्डीकोतल उन्हें ले गये।

कन्धेपर बन्दूक धरे चार कबायली पठानोंने आ घेरा। गेरुवा वस्त्र देखकर कहा—यह तो काफिर है, काफिरोंका मारना सबाब होता है। वह क्या बोल रहे हैं, इसका पता स्वामीजीको नहीं था, पर वैष्णवदास पश्तो जानते थे। आखिर पेशावरी थे। उन्होंने उनसे कहा—"यह मलँग है, जैसे तुम्हारे वैसे हिन्दुओंके। इनको मारकर तुम बहिश्त नहीं जा सकते। हमारे पास कुछ है ही नहीं।" बड़ी मुश्किलसे जान बची। स्वामी कहने लगे—"ऐसे खतरनाक जगहमें क्यों लाये?" लेकिन अपने ही तो इस इलाकेके देखनेके लिए उतावले थे। पेशावर लौट आये।

अब वहाँ रहनेका मन नहीं कर रहा था। वैद्य नहीं कुछ यूनानी हकीम थे। आयुर्वेदकी बूटी "त्रायमाण" को वह गुलजलील कहते थे। स्वामीने उसे वहाँ पन्सारियोंके पास देखी। पेशावरमें हींगके कारखानोंको भी उन्होंने देखा। हींग काबुलकी ओरसे आती है, लेकिन उसकी सबसे बड़ी मण्डी पेशावर है। वैष्णवदासके एक रिश्तेदार हींगके व्यापारी थे। वैष्णवदास उन्हें कारखानेमें ले गये। वहाँ नकली और असली दोनों तरहकी हींग तैयार होती थी। हींगके पौदेका नाम रामठ है, जिससे दूध निकलता है। बकरेकी खालोंमें भर कर यह दूध आता है। पचासों खालें कारखानेमें पड़ी हुई थीं। बड़े-बड़े कुण्ड बने हुए थे। पहाड़के एक सफेद भुरभुरे पत्थरको कूट कर बारीक बजरी-सा बनाके उसकी तह इस कुण्डमें बिछाई जा रही थी, जिसके ऊपर हींगका दूध छिड़क दिया जाता। बीच-बीचमें उड़दका आटा भी दूधपर बिखेर दिया जाता। इस प्रकार एकके ऊपर एक तहें जमाई जातीं। जब वह काफी मोटी हो जातीं तो कुण्डको बन्द कर देते। एक साल बाद सारा दूध जम कर हींग बन जाता। यह नकली या मिलावटी हींग है। असली हींग भी बनती देखी। वहाँ दूधसे भरी सैकड़ों खालें पड़ी हुई थीं। तीन-चार साल इस तरह पड़े रहनेके बाद हींगका दूध जम कर थक्का हो जाता है। फिर उसे बेंच देते हैं। यह असली हींग है। हींग अफगानिस्तानमें किसी एक ही इलाकेमें नहीं होती, बल्कि अलग-अलग जगहोंमें होती है और उनके स्वाद, गुणोंमें भी अन्तर होता है। स्थानोंके नामपर उन्हें हड्डा, सड्डा,

नईजमीन, चिलास, साहबन्दी आदि आठ-नौ प्रकारकी हींगें होती हैं। उनका मूल्य दो रुपयेसे दस रुपये सेर तक था।

पेशावरसे वैष्णवदासके साथ स्वामी पंजा साहब गये। वहाँ सिक्खों और हिन्दुओंका पवित्र तीर्थ है। वहाँसे कालाबाग स्टेशनपर उतर कर तक्षशिलाके खण्डहरोंको देखने गये। तक्षशिला ऐतिहासिक और पुरातात्विक दृष्टिसे बहुत महत्त्व रखती है और वैद्योंके लिए तो वह एक तीर्थ है। क्योंकि वैद्य आत्रेय इसी तक्षशिलामें आयुर्वेदके महान् आचार्य थे। तक्षशिलासे वह डेराइस्माइलखाँ, डेरागाजीखाँ, कटासराज और खेवड़ेकी सेंधा नमककी खानोंको देखते मुलतान (प्रह्लादपुरी) पहुँचे। प्रह्लाद यहीं जन्मे थे और यहीं हिरण्यकशिपुको नरसिंहने मारा था। मुलतान (मूलस्थान) मुख्यतः प्रह्लाद और नरसिंहके लिए नहीं, बल्कि अपने सूर्यमन्दिरके लिए मशहूर था, जिसके पीछे लोग नाम तक भूल गये। मुलतानसे स्वामी लाहौर आये, फिर अमृतसर। वैष्णवदासको वहीं छोड़ अब द्वाबाके इलाकेमें घूमने लगे। लोगोंसे सुना था, इस इलाकेके कस्बेमें अच्छे-अच्छे वैद्य रहते हैं। द्वाबा और सारे पंजाबमें वह पाँच महीने घूमते रहे। कितने ही योग्य वैद्योंसे परिचय प्राप्त किया और वहाँ पैदा होनेवाली वनस्पतियोंका भी ज्ञान तथा कितने ही अनुभूत योग भी मिले। पंजाबका घनिष्ठ परिचय इसी बार उन्हें पहलेपहल मिला। लेकिन उस समय क्या समझते थे कि उन्हें अन्तमें पंजाबी बनना होगा।

चम्बा—यह सारी यात्रा उस समय कर रहे थे, जब यूरोपमें प्रथम विश्वयुद्ध हो रहा था। वह पहाड़ोंपहाड़ ही अधिक घूमे तो भी महायुद्धकी भनक उनके कानों तक नहीं पहुँची हो, यह बात नहीं थी, लेकिन उससे उन्हें कुछ लेना-देना नहीं था। अंग्रेजका राज्य रहे या जर्मन आ जाय—"कोउनृप होइ हमैं का हानि" की चौपाई उनकी जीभपर थी। चेरी छोड़ कर रानी बननेका संकल्प उनके कितने ही देशवासी कर चुके थे, इसका उन्हें पता नहीं था या उसमें दिलचस्पी ही नहीं थी। जब गर्मियाँ आईं तो किसी ठण्डी जगह पकड़नेकी फिकर पड़ी। वह होशियारपुरसे काँगड़ा जिलेमें घुसे। ज्वालाजीको देखते मण्डी वहाँसे फिर

धर्मशाला नूरपुर होते धर्मशाला और फिर चम्बा राजधानीमें १९१८ ई० के आषाढ़ महीनेमें राजवैद्य भगवानूदासके पास पहुँचे। वैद्यकी स्वामीकी योग्यतासे प्रभावित होना ही ठहरा। उनके पास "रसकामधेनु" नामक रसका एक विशाल ग्रन्थ देखनेको मिला जो चार पदोंमें था। उसके महत्वको देखकर स्वामीने उसको उतार लेनेका निश्चय किया। वैद्यजीके पास उनके मित्र पं० लक्ष्मणदास कश्मीरी भी आया करते थे, जिनको भी वैद्यकका शौक था। वह चम्बासे दो मीलके फासलेपर एक गाँवमें रहा करते थे। वैद्यजीके यहाँ रोगियोंका आना-जाना अधिक रहता था और स्वामीजीको किसी एकान्त स्थानकी जरूरत थी। पं० लक्ष्मणदास उन्हें अपने गाँव ले गये। "रसकामधेनु" का एक पाद भी लिख नहीं पाये थे, इसी समय उर्दू दैनिक "प्रताप" में पढ़ा कि कराचीकी ओर बड़े जोरकी इन्फ्लुएंजाकी बीमारी फैली हुई है। दूसरे दिन पढ़ा कि इन्फ्लुएंजा लाहौर पहुँच गया और वहाँ हजारों आदमी बीमार पड़े हुए हैं। अगले दिन तो लोगोंने बतलाया, वह पठानकोट और डलहौसी आ गया। उसके ही अगले दिन पता लगा कि वैद्य भगवानूदासका सारा परिवार इन्फ्लुएंजामें पड़ा हुआ है। उसी दिन शामको स्वामीको भी सूखी खाँसी आने लगी। रात तक वह भी पड़ गये। उन्होंने जुलाबकी गोली खा ली, जिससे रातको ही दस्त आ गये। फिर बुखार चढ़ने लगा। दिन चढ़ते-चढ़ते खाँसी बुखारका इतना जोर हुआ कि उन्हें कोई होश-हवास नहीं रहा। वैद्यराजके घर गये थे फिर वहाँसे वापस नहीं आये। चारपाईपर इन्फ्लुएंजामें पड़े थे। वैद्यराजकी स्त्री काँवाने स्वामीकी बड़ी देखभाल की। तीन दिन तक उन्होंने कुछ नहीं खाया, सिर्फ पानीपर गुजारा किया। चौथे दिन अपने-आप कुछ होश आया। पाँचवें दिन बुखार कुछ कम हुआ, सातवें दिन अवस्था बेहतर हुई। उस दिन पता लगा कि भगवानूदासके घर सिर्फ वह और उनका छोटा भाई बचा है, बाकी सब इन्फ्लुएंजाकी भेंट चढ़ गये। चम्बा नगरमें सैकड़ों आदमी मरे। चार ही हफ्तेमें तो इस महामारीने भारतमें ६० लाखकी बलि ले ली थी। वह लोगोंको सजग करके थोड़े ही आती थी। अपने मित्र वैद्यराजके घरपर जो विपद्

पड़ी थी, उसके लिए उन्हें बहुत अफसोस हुआ। पुस्तक एक चौथाई ही लिखी थी। समाप्त करना जरूरी था। सर्दियाँ समाप्त होते-होते उन्होंने लिख कर पुस्तक समाप्त कर ली और फिर अमृतसरमें आकर दुरगियाना तालाबके किनारे वैष्णवदाससे मुलाकात की।

इस 'रसकामधेनु' को १९२२में गोण्डलकी रसशाला औषधालयके स्वामी राजवैद्य जीवराम कालिदासने प्रकाशन करनेके लिए लिया। इसके 'धातु-संग्रह', 'उपकरण' और 'सूतक्रियाके' तीन पादोंको आचार्य यादवजी त्रिकमजीने १९२५ ई०में और चौथे 'चिकित्सा' पादको पं० जीवरामने प्रकाशित किया।

अध्याय ६

देशकी आगमें (१९१९-२२ ई०)

वर्ष ३०-३३

अमृतसर—अमृतसरमें अबकी स्वामी लाला सन्तरामकी बगीचीमें ठहरे। वैष्णवदासजी दुरगियानामें थे। दोनों मिलते रहते थे। लड़ाई समाप्त हो गई थी। १९१९ में अब स्वामी ३० सालके हो गये थे, जिसमें आधेको उन्होंने घूमते-फिरते तरह-तरहका तजर्बा हासिल करते बिताया। बुद्धि परिपक्व हो चुकी थी। आयुर्वेदका पूरा अनुभव हो चुका था। कौन-सी जड़ी-बूटी कहाँ होती है, कहाँसे आती है, इसका जितना ज्ञान उन्हें था, उतना शायद ही किसी वैद्यको हो। कई अनुभूत दवाइयाँ पासमें थीं, इसलिए रोगियोंको तत्काल लाभ पहुँचता और उनके पास बहुत-से रोगी आया करते थे। पैसा भी काफी आ जाता। स्वामीने देखा, रोगियोंमें अधिकांश गरीब हैं। वह पैसा खर्च नहीं कर सकते। हाँ, श्रद्धाके फूल जितना वह बिखेर सकते हैं, उतना धनी नहीं। चिकित्साका पेशा ऐसा है, जिसमें हर तरहके रोगीके प्रति पूरी तरहसे दया और सहानुभूति रखनी चाहिये। स्वामीजीका विचार था, चिकित्साको परोपकारकी भावनासे ही करनी चाहिये। यदि लाखों रुपया कमाना हो, तो व्यवसायके रूपमें चिकित्साको नहीं अपनाना चाहिये। रुपया कमानेका जब ध्यान रहता है, तो पैसा अपनी ओर खींच लेता है और दया तथा परोपकारकी भावना जाती रहती है। स्वामी साधु भी थे और उस बानेको छोड़ना नहीं चाहते थे। यह बात नहीं थी कि इस तरुणाईकी अवस्थामें उनके दिलमें राग न उत्पन्न होता हो। वह रहते भी ज्यादातर गृहस्थोंमें। पर उनके ऊपर जो धुन सवार होती, वह एक बग्गा हो उधर

ही चल पड़ते। इसीलिए वह अपने मनको रोकनेमें अधिक सफल हुए। तितिक्षा और संयमकी शक्ति अभ्यासके साथ उन्होंने खो नहीं दी थी। ऐसे आदमियोंकी वह संगति नहीं करते थे, कि जिससे मनमें विकार पैदा हो। फिर कार्यकी इतनी भीड़ रहती थी, चौबीस घंटेके समयमें सोनेके लिए भी मुश्किलसे समय मिलता। नये ग्रन्थ हाथ लग जाते तो उनके पारायणमें लग जाते।

वैष्णवदासके अब भविष्यके कार्यपर विचार होने लगा। दोनों ही बहुत पुराने दोस्त थे, और एक दूसरेको अच्छी तरह जानते थे। दोनों घुमक्कड़ीका जीवन ही बिता रहे थे। वैष्णवदास भी कहने लगे "मेरा भी मन अब घूमनेसे ऊब गया है। अब हम तुम्हारे साथ ही शेष जीवन बिता देंगे।" स्वामीने कहा—"चिकित्साका व्यवसाय हम अधिक दिनों तक नहीं करेंगे। हम तो आयुर्वैदिक दवाइयोंके बनानेकी फार्मेसी खोलेंगे, जिसके लिए कुछ पूँजीकी आवश्यकता है। हम तभी तक चिकित्सा करते रहेंगे, जब तक कि अपेक्षित पैसा हाथ में नहीं आ जाता।" उन्होंने देख लिया, कि फार्मेसी खोलनेके लिए अमृतसर जैसा उपयुक्त स्थान कोई नहीं मिल सकता। यही नहीं कि यहाँ हिमालयकी जड़ी-बूटियोंके व्यापारकी सबसे बड़ी मण्डी है, बल्कि लाहौरके राजधानी होनेपर भी व्यापारकी राजधानी अमृतसर ही है। वैष्णवदास इस विचारसे सहमत हुए। दोनोंने सलाह की, कि अब मठों और धर्मशालाओंको छोड़ कर शहरमें कोई जगह लेकर रहा जाये। इसी विचारसे वह आलूवाले कटरेमें मारवाड़ियोंकी धर्मशालामें आ गये। सोच रहे थे, पाँच-सात दिनमें कोई जगह तलाश कर लेंगे।

जलियाँवालाबाग-काण्ड—लड़ाई समाप्त हो चुकी थी। जाने या अनजाने भारतके लोग यही मना रहे थे, कि अँग्रेजोंकी हार हो जाय। वस्तुतः अँग्रेजोंको देशसे निकालनेका उन्हें कोई रास्ता नहीं सूझ रहा था, और न अपनेमें ऐसी शक्ति पाते थे, कि ऐसे दुर्धर्ष शत्रुको हटा सकें, जिसने महायुद्धमें इतनी बड़ी विजय प्राप्त की थी। लड़ाईके समय देशके धन-जनको जिस तरह अँग्रेजोंने जबर्दस्ती स्वाहा किया, उसका आर्थिक

प्रभाव भी बहुत जबर्दस्त पड़ा। शिक्षित-वर्गमें राजनैतिक चेतना तेजीसे बढ़ी थी। हर तरफ भीतर ही भीतर आग सुलग रही थी। अँग्रेज लड़ाईके समय गैरकानूनी कानून बना कर लोगोंको दबाये हुए थे। शान्तिके समय वह कानून चल नहीं सकते थे। उधर बंगालमें और कुछ दूसरी जगहोंमें क्रान्तिकारी जो बलि दे-ले रहे थे, उससे उनकी नींद हराम हो गई थी। उन्होंने इसकी जाँचके लिए जस्टिस रोलेटकी अध्यक्षतामें कमीशन मुकर्रर किया था। उसकी रिपोर्टका सहारा ले वह रोलट-कानून बना हमेशाके लिए उन गैरकानूनी कानूनोंको भारतीयोंके ऊपर लादना चाहते थे। जब संकटका समय था, तो वह तरह-तरहके वादे और प्रलोभन देते रहे। अँग्रेजोंके भक्त नरमदली राजनीतिज्ञ अनन्त-काल तक प्रतीक्षा करनेके लिए तैयार थे, लेकिन देश इसके लिए तैयार नहीं था।

गाँधीजी अब भारतमें थे। जनशक्तिका उन्हें जितना ज्ञान था और उसपर जितना भरोसा था, उतना किसीका नहीं था। वह समझते थे, यद्यपि अँग्रेजोंने भारतियोंको निहत्था करके छोड़ा है, और उनको खूनी हाथोंसे दबानेके लिए जगह-जगह फौजी छावनियाँ बना रक्खी हैं, पर तो भी जनताकी अमोघ शक्ति अपना चमत्कार दिखला सकती है। कामके लिए बहाना भी मिल गया। रोलट-कानून नरमदलियोंके विरोध करनेपर भी सरकारने पास कर दिया। नरमदली नेता नरम-नरम शब्दोंमें कुछ विरोध प्रकट करनेसे अपने कामकी इतिश्री समझते थे, लेकिन गाँधीजी इसे जनताके पास ले आनेके लिए तैयार थे। ६ अप्रेल १९१९ को इतवारका दिन था। उसी दिन सब जगह हड़ताल और विरोधी सभा करनेका निश्चय किया। लाहोर और अमृतसरमें उस दिन जनतामें ऐसा जोश देखा गया था, जितना शायद ही कभी उससे पहले हुआ हो। यह ठीक है १८५७ ई० के स्वतन्त्रता-युद्धमें पंजाबवालोंने अँग्रेजोंकी सहायता की थी। सिक्खोंको हरानेके लिए पुरबियोंने अँग्रेजोंका साथ दिया था, उसीका बदला १८५७ में सिक्खोंने लिया, जिसका फल दोनोंको भुगतना पड़ा। सिक्खोंने आजादीके लिए इस समय क्या नहीं

कुर्बानी की थी। सन् ५७ के विद्रोहमें पुरबियोंने भी दिखला दिया, कि उन्होंने अपनेको दो टुकड़ोंके लिए अँग्रेजोंके हाथमें बेंच नहीं डाला।

अब पंजाब सारे देशसे आगे रहना चाहता था। लड़ाईके दौरानमें ही सैकड़ों पंजाबी—ज्यादातर सिक्ख—देशको स्वतन्त्र करानेके लिए अमेरिकासे आये। उनमेंसे बहुतेरे हँसते-हँसते फाँसीके तख्तेपर चढ़ गये। वह रिहर्सल था। अब असली नाटकका समय आ गया था। वस्तुतः गांधीजीने जो दिन हड़ताल और सभाके लिए नियत किया था, गलतीसे उसे पहले समझ लिया गया। अँग्रेजोंने जनताके जोशको देख लिया। तानाशाह उडायर उस वक्त पंजाबका राज्यपाल था। ६ अप्रेलको जो कुछ पंजाबके शहरोंमें हुआ, उसे देख-सुन कर अँग्रेजोंकी नींद हराम हो गई। अमृतसरके अँग्रेज अफसरोंने इसे रोकनेके लिए यही उपाय सोचा, कि नेताओंको पकड़ लिया जाये, फिर संचालनके अभावमें जनताका जोश ठण्डा हो जायगा। डा० सैफुद्दीन किचलू और डा० सत्यपाल उस समय अमृतसरके बेताजके बादशाह थे। ११ तारीखकी रातको उन्हें गिरफ्तार कराया गया। रात ही रात सब जगह इसकी खबर पहुँच गई। १२ के सबेरे लोग गुस्सेमें पागल हो सड़कोंपर निकल आये। वह नेताओंको छुड़ानेके लिए जिलाधीश (डिप्टी-कमिश्नर) के बँगलेकी ओर चल पड़े। लोगोंकी बाढ़ हाल बाजारकी ओर उमड़ती चली जा रही थी। इच्छा न रहते भी कितने ही उस बाढ़में तिनकेकी तरह बहे जा रहे थे। इन्हींमें वैष्णवदास और स्वामी हरिशरणानन्द भी थे। हृदयके कोनेमें पीढ़ियोंके सुषुप्त विद्रोहकी भावना थी। शायद वही उन्हें उस बाढ़में खींच कर ले गई।

स्वामी हरिशरणानन्द हरिश्चन्द्र रहते भी नित्य अखबार पढ़ा करते थे और बाबा गंगादासको सुनाया करते थे। अब तो उन्हें उसका अमल हो गया था। बिना अखबार पढ़े पेटमें अनाज नहीं पचता था। लेकिन, राजनीतिसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं था। यदि उधर रुचि होती भी तब भी उनका सारा ध्यान फार्मेसी कायम करनेमें लगा हुआ था। वह

चाहते थे, लखपति हो जायँ, लेकिन आदमी सामाजिक जीव है। समाजसे प्रभावित हुए बिना वह कैसे रह सकता है?

जलूसके साथ स्वामी हालबाजारके बाहर रेलका पुल पार हो गागरमलकी कुइयाँके पासवाले चौरस्तेपर पहुँचे। उसी समय फौजने आकर जलूसको आगे बढ़नेसे रोक दिया। भीड़ पीछे हटनेके लिए तैयार नहीं थी। सैनिक आगेवालोंपर ही जोर-दबाव डाल सकते थे। पीछेकी भीड़ उनके हाथसे बाहर थी, और उसके रेलेसे आगेवाले सैनिकोंको ढकेलकर आगे बढ़ाना चाहते थे। सड़कको चार गोरे घुड़सार अफसर गश्त लगाते रोके हुए थे। भीड़ में स्वामी और वैष्णवदास एक ही साथ शामिल हुए थे। लेकिन, भीड़के प्रवाहका क्या ठिकाना? न जाने कैसे वैष्णवदास आगे पहुँच गये। घुड़सवार इधरसे उधर भाग रहा था। वैष्णवदासके उसके घोड़ेका धक्का जोरसे लगा। वह क्रोधी स्वभावके थे। धक्का लगनेपर उनका पारा गरम हो गया। वह अपने कुर्तेकी बाँहमें हर समय एक डण्डा छिपाये रखते थे। धक्का लगते ही डण्डा बाहर निकला ताबड़तोड़ घोड़ेके चूतड़पर बजा दिया। घोड़ा बिदक उठा। अफसर इस गुस्ताखीको कैसे सह सकता था। उसके हाथमें एक लम्बा चाबुक था। उसने चाबुकको पीछेकी ओर फटकारा। संयोगसे वह भी वैष्णवदासके ऊपर ही पड़ा। डण्डा गोरेके पास तक पहुँच नहीं सकता था। सड़कके किनारे ईंटें गड़ी हुई थीं। उन्हें उखाड़ कर उन्होंने ताबड़तोड़ मारना शुरू किया। एक ईंट गोरेके हैटको छूती निकल गई। यह बातें चौरस्तेपर खड़े गोरेने देख ली, और उसने तुरन्त गोली मारी। भीड़पर चार फायर हुए। एक गोली वैष्णवदासके कोखमें लग कर देहके भीतर रह गई। वह वहीं गिर पड़े। एक गोली एक बच्चेको लगी, और वह भी जमीनपर गिर पड़ा। सारी भीड़में भगदड़ मच गई। गोलियोंके सामने निहत्था हाड़-मांस क्या कर सकता था? लेकिन खूनका घूँट पीकर लोग चैनसे कैसे रह सकते थे? अब तो खून हो गया था। वह बदला माँग रहा था। यदि वह नहीं हो सकता, तो जनता बैंकों, डाकखानों, गिर्जाघरोंपर टूट पड़ी। अँग्रेजोंके नामसे जिस किसी चीजका कोई सम्बन्ध था, उसको

ध्वंस करना वह अपना कर्तव्य समझने लगी। गिर्जा जला दिया गया, बैंकोंको लूट लिया गया। कोई अँग्रेज दिखाई पड़ता, तो उससे बदला लिए बिना छोड़ा नहीं जाता। अमृतसरकी यह आग सारे पंजाबमें फैल गई। अंग्रेज इसको दबानेके लिए तैयार थे।

स्वामी हरिशरणानन्दने अपने साथीको जमीन पर गिरते देख लिया। लेकिन उस समय वहाँ पहुँचना बेकार था। जब भीड़ वहाँसे हट गई, गोरे भी वहाँ नहीं रहे, तो तुरन्त तांगा लेकर वह वहाँ पहुँचे, और वैष्णवदासको उसमें डालके धर्मशालामें लाये। घाव मामूली नहीं था। गोली पेटके भीतर थी। दोनों मित्र एक अपरिचित नगरमें थे, जहाँ उनकी किसीसे जान-पहचान नहीं थी। दिन भर तो अवस्था बुरी नहीं मालूम पड़ी, पर शामको वह बिगड़ने लगी। इसी बीच काँग्रेसके कार्यकर्ताओं-को पता लगा, और वह आहत साधुकी देखभालके लिये एक डाक्टरके साथ धर्मशालामें आये। डाक्टरने कहा, आपरेशन करके गोली निकाले बिना काम नहीं चल सकता।

धर्मशाला जलियाँवाला बागके पास ही थी। सुबह उठते ही स्वामीको पता लगा, कि कलके गोलीकाँडके विरोधमें आज जलियाँवाला बागमें सभा होगी। लोग हजारोंकी संख्यामें उधर जा रहे थे। वस्तुतः इस स्थानका नाम बिलकुल गलत था। वहाँ कोई वृक्ष या पौदा नहीं था। शहरके भीतर चारों ओर घरोंसे घिरा मैदान था, जिसमें लोग पाखाना फिरते थे, या गोबर पाथनेवाली गोबर जमा करती थीं। वस्तुतः तीन तरफ गोबरोंका ही ढेर था। एक ओर एक पुराना खराब कूआँ था, और एक ऊँचे चबूतरे पर देवीका मन्दिर था, जो इस गन्दे स्थानमें होनेके कारण भक्तोंको अपनी ओर खींचनेमें समर्थ नहीं था। सबेरे ८-९ बज रहा था। लोग जलियाँवाला बागके भीतर जा रहे थे। जानेके लिये एक ही तंग गली थी। भाषणके लिये वहाँ एक बड़ा-सा मञ्च बन गया था। जनता पहुँच गई, पर नेता अभी पहुँचे नहीं थे। इसी बीच फौज आ गई, और उसने गलीके निकास पर मशीनगन लगा दी। भारी भीड़ थी। जोशका क्या पूछना? पासकी धर्मशालामें साथीको घायल

छोड़कर स्वामी हरिशरणानन्द भी बागके अन्दर पहुँच गये। जेनरल डायर आया। उसने मञ्चपर चढ़े आदमियोंको हुकुम दिया—जलसा बन्द करो, नहीं तो गोली चलाई जायगी। किसीने उसकी बातकी पर्वाह नहीं की। सामनेके कुछ लोग हटने लगे। स्वामी भी देवीके मन्दिरके पास पहुँचे। उन्हें साथीको छोड़ना नहीं चाहिये था। और आगे बढ़नेसे पहले ही मशीनगन तड़तड़ाने लगी। घायलोंकी चीख-पुकार और लोगोंमें भगदड़ मच गई। आदमीके ऊपर आदमी गिरते जा रहे थे, और लोग जहाँसे दौड़ रहे थे। निकलनेका रास्ता जिधर था, उधर ही से तो गोलियाँ आ रही थीं। कितने ही आदमी गोबरमें धँस गये, कुएँमें गिर पड़े। थोड़ी ही देरमें उस मैदानमें लाशों, जूते, पग-ड़ियाँ बिखरी पड़ी थीं। घायल चिल्ला रहे थे। लेकिन सभीको अपनी-अपनी जानकी पड़ी हुई थी, दूसरेकी सुध लेनेकी किसको फुर्सत थी? अंग्रेज इस खूनी काण्डके लिए पहले ही सोचकर तैयार थे। वह समझते थे, आतङ्क फैलाकर ही पंजाबमें विद्रोहकी भावना को दबाया जा सकता है। कुछ घण्टोंके लिए जलियाँवाला बागमें जरूर वह सफल हुए। लेकिन, उनको क्या पता था, जलियाँवाला बागकी आग सारे देशमें भड़क उठेगी, और इतना प्रचण्ड रूप लेगी, कि एक नहीं हजार डायर-उडायर भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकेंगे। करोड़ोंकी जनतामें डेढ़-दो हजारके मरनेसे क्या बिगड़ता है? मरे हुओंके लिये एक बार अफसोस प्रकट कर जनताको तो अपने दिलके भीतर लगी आगको बुझानेके लिए कुछ करना ही पड़ेगा। अंग्रेजी शासनके अन्तका आरम्भ यहीं जलियाँवाला बागसे हुआ, जिसके कि स्वामी प्रत्यक्षदर्शी थे। यदि वह देवीके मन्दिरके चबूतरेकी आड़में न होते, तो शायद इस जीवनको लिखनेकी जरूरत नहीं होती। हजारों गुमनाम मर गये शहीदोंकी तरह वह भी अनजानी दिशाका रास्ता लेते।

उस रोमाञ्चकारिणी घटनाको आँखोंसे देखकर कुछ ही देर बाद स्वामी अपने साथीके पास थे, जिसकी हालत क्षण-क्षण बिगड़ती जा रही थी। पिछले दिनका काण्ड आजके सामने कुछ भी नहीं था।

अंग्रेजोंने चारों ओर आतङ्क फैला दिया था। तो भी शामको डाक्टर ने आकर क्लोरोफार्म सुँघा कर गोली निकाल दी। हालत और भी बुरी हो गई, और दो घण्टा रात रहते-रहते स्वामीने अपने प्रिय साथीको खो दिया। उन्होंने जलियाँवाला बागके हजारों शहीदोंको भी धराशाई देखा था, और उसका भी उनके हृदय पर प्रभाव पड़ा था; लेकिन यह तो वैयक्तिक हानि थी। वैष्णवदास उन्हें मानसरोवर ले गये थे। उनके साथ वह कहाँ-कहाँ तक घूमते रहे। योग-ध्यानसे वैष्णवदास का कोई मतलब नहीं था, और न चिकित्सा शास्त्रसे ही। नहीं तो, उस समय भी वह स्वामीके साथ बराबर रहते। अब दोनों एक जगह अपना जीवन बितानेका स्वप्न देख रहे थे। दुरगियानासे धर्मशालामें इसीलिए आये थे, कि जल्दी ही कोई जगह किराया लेकर अपना काम शुरू करें। आज वह साथी चल बसा था। स्वामी अकेले थे। पुरानी स्मृतियाँ एक-एक करके जाग रही थीं। खूनके आँसू पीते मन मसोस कर भीतर ही भीतर विलाप करते स्वामीने किसी तरह रात काटी। सबेरा हुआ। अमृतसरके पहले खूनी काण्डके शहीदकी मृत्युकी खबर लोगोंको लगी। जलियाँवाला बागके खूनी काण्डसे बढ़कर आतंक फैलानेका और क्या काम अंग्रेज कर सकते थे। सचमुच जनमानस दुर्दम्य था, नहीं तो उस रातको कोई डाक्टर आपरेशन करनेके लिए क्यों हिम्मत करता? और आज तो जब शहीद वैष्णवदासकी अर्थी चली, तो उसके साथ ५० हजार आदमियोंकी भीड़ थी। चाटीपिण्डके श्मशान पर उन्हें ले गये। दाह-संस्कारकी रस्म पूरी अदा नहीं हुई थी, कि फौजने आकर श्मशानको चारों ओरसे घेर लिया। अपराधी-निरपराधके पता लगानेका साधन क्या था? भीड़में जिनको अधिक सभ्य रोब-दाबवाला देखा, उन्हींको पकड़कर लारियोंमें बिठा जेल भेज दिया। स्वामी भगवा पहने एक मामूली साधु थे। उनको कौन पूछनेवाला था?

धर्मशालामें आकर सोचने लगे, अब क्या करें। किसी निर्णयपर पहुँचनेसे पहले ही शाम हो गई। एक कांग्रेसीने उन्हें सूचना दी,

कि जल्दी यहाँसे चले जाओ, नहीं तो पुलिस गिरिफ़्तार कर ले जायेगी। लड़ाईके समय अंग्रेजोंने खुफियोंकी भारी पलटन भरती की थी, सर्वत्र उनका जाल बिछा हुआ था। सच्ची-झूठी किसी खबरको अफसरोंके पास पहुँचाकर ही वह निश्चिन्त हो टुकड़े तोड़ सकते थे। वैष्णवदासके साथी साधुका पता लगाना उनके लिये मुश्किल नहीं था। उसी रात स्वामी अपना डण्ड-कमण्डल छोड़ बाजार कसेरामें पेशावरियोंकी धर्मशालामें रात बितानेके लिए चले गये, और तड़के ही शहर छोड़नेका निश्चय कर लिया।

कन्धेपर झोली रक्खे पानीका लोटा हाथमें लिये बड़े सबेरे वह रामबाग दरवाजेसे बाहर निकलने लगे। शहरमें अंग्रेजोंने नाकाबन्दी कर ली थी। गोरेने उन्हें बाहर जानेसे रोका। उसके साथ सिक्ख पुलिस-अफसर था। उसने गोरेको बताया, यह साधुफकीर हैं। इनका शहरमें कोई घर-द्वार नहीं है। यह सबेरे टट्टी-फराकतके लिये शहरसे बाहर जाया करते हैं। गोरेने छोड़ दिया। जान बची लाखों पाये। शहरसे कुछ दूर हटते ही स्वामीके पैरोंमें पंख बँध गये। लम्बे-लम्बे डेग भरते वह सात मील चलकर बड़ी सोइयाँ पहुँच एक शिवालयमें ठहरे। पाँच घरोंसे मधुकरी माँग लाये, खाकर वहीं बैठे। एक माईने साधुके पास कोई सामान न देखकर बिछानेके लिए एक दरी और अलफी बनानेके लिए एक चादर दे दी। तीन दिन तक यहीं गुजारा। दोपहरके वक्त मधुकरी लेने गये थे, इसी समय मन्दिरमें पुलिस पहुँच गई। एक लड़का भागा-भागा इनके पास आकर बोला—"मन्दिरमें पुलिस आ गई है, वहाँके दूसरे साधुको उसने गिरफ़्तार कर लिया है। आप वहाँ न जायें।" एक माईने अपने घरमें उन्हें शरण दी। साधु बूटासिंह को पकड़ कर पुलिस ले गई। गाँवमें स्वामीकी भी तलाश की, पर पता नहीं लगा। रातको माईके घरमें ही रहे। बड़े सबेरे माईने जगा कर कहा, कि आप कहीं और जगह चले जायँ। हमारे भी कितने ही दुश्मन हैं, कोई शिकायत करके आपको पकड़ा देगा।

स्वामी तड़के ही वहाँसे निकले। उन्होंने सोच लिया, अब पहाड़में जानेमें ही खैरियत है। डेराबाबा नानकके पास रावी पार करना चाहते थे, इसलिए उधर ही जा रहे थे। दूर-दूर तक गाँवोंमें पुलिस पहुँच गई थी। बैंक और दूसरी जगहें लूटी गई थीं। लूटके मालको लोगोंने गन्नेके खेतोंमें छिपा रक्खा था, जिन्हें पुलिस जमा कर रही थी। गाँवोंमें गिरफ़्तारियाँ भी हो रही थीं। रावी पार करते समय घाटपर बैठे सन्तरीने टोका—"कहाँ जा रहे हो? कहाँसे आये?" स्वामीने बतलाया—हम तो रमते राम हैं। कभी इस गाँवमें, कभी उस गाँवमें विचरते रहते हैं। कल व्यासके किनारे थे, रात मजीठामें और आज तुम्हारे सामने हैं। सिपाहीने विश्वास कर लिया, कि अमृतसरसे आया नहीं है, इसलिये छोड़ दिया।

कुठौवा पहुँचे पहाड़के भीतर प्रविष्ट हुए। गर्मियाँ सिरपर थीं, इसलिये पहाड़में विचरण करनेका निश्चय किया। सोच रहे थे—संसारमें गुलामोंका कोई जीवन नहीं, न उनके जीवनका कोई मूल्य है। बिना कसूर हजारों आदमी गोलीसे भून दिये गये, और अब कोई पूछनेवाला नहीं। स्वामी अखबारोंमें अफ्रीकाके गुलामोंके किस्से पढ़ चुके थे। उन्हें बेदर्दीसे पकड़कर जंजीरमें बाँध दिया जाता, फिर गुलाम बनाकर बेंच दिया जाता। भारतवासियोंकी भी स्थिति उससे क्या कम है? आर्य जातिका उन्हें अभिमान था। समझते थे, संसारको इसने सभ्यताका पाठ पढ़ाया। पढ़ाया होगा किसी समय, लेकिन अब तो वह गुलामसे भी बदतर है। यह भी कोई जिन्दगी है। इन सब विचारोंने उनके मनको एक नई दिशाकी ओर प्रेरित किया। वह समझने लगे, कि महात्मा गांधी क्यों स्वराज्य माँग रहे हैं। क्यों कांग्रेस स्वतंत्रताके लिये संघर्ष कर रही है।

देशभक्ति जगी—१९१९ ई० की सर्दियोंमें अमृतसरमें कांग्रेसका अधिवेशन हुआ। वह अधिवेशनमें शामिल होनेके लिये स्यालकोटसे अमृतसर आये। जलियाँवाला बागके खूनी काण्डके बाद भी जनताके उत्साहको उन्होंने जरा भी मन्द पड़ा नहीं देखा। नेताओंके व्याख्यानों-

को सुननेका मौका मिला। आठ महीनेसे दिमागमें जो खिचड़ी पक रही थी, अब वह पूरी तैयार हो गई। स्वामी बिल्कुल बदल गये। "अपने गुलाम देशको आजाद करना हमारा कर्तव्य है, यदि यह भाव नहीं, तो हमसे पशु बेहतर हैं"—यह भावना उनके दिलमें भर गई। कांग्रेसके समाप्त होनेके बाद वह फिर स्यालकोट लौट गये; लेकिन अब भागनेके लिए नहीं, बल्कि स्वतन्त्रताके संघर्षमें भाग लेनेके लिए। देशके लिए जो लोग बलिवेदी पर चढ़े; उन्हें वह अपना सगा बन्धु समझते। आखिर उन्हींमें से तो उनके मित्र वैष्णवदास थे। अब राजनीतिक पुस्तकोंको ढूँढ़-ढूँढ़ कर पढ़ने लगे। ऐसी पुस्तकोंको और चावसे, जिन्हें कि अंग्रेजोंने जब्त कर रक्खा था। वह गाँधीजी के अहिंसात्मक युद्धसे ज्यादा क्रान्तिकारियोंके तरीकेको पसन्द करते थे। समझते थे अंग्रेजों और उनसे भी बढ़कर उनके खुशामदी देशद्रोही भारतीयोंके साथ दया-माया दिखाना पाप है 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' (शठके साथ शठ बनना चाहिए।) क्रान्तिकारी अंग्रेजोंको अपनी गोलीका निशान बनाते, बहुत अच्छा करते हैं। लेकिन, देश अब एक दूसरी ही बाढ़में बह रहा था। गान्धीजीने हिंसाका रास्ता छोड़ कर जन-जागृति पैदा करनेमें बड़ी सफलता प्राप्त की। चाहे फैसला हिंसासे हो या अहिंसासे, पर वह जन-जागृति और जन-शक्तिके बलपर ही हो सकता था। यद्यपि क्रातिकारियोंके साथ उनकी भारी सहानुभूति रही, पर स्वयं उसमें शामिल होकर काम करनेकी इच्छा उन्होंने कभी नहीं की। हो सकता है, इसमें फार्मेसीका लक्ष्य सामने रहना भी बाधक था।

फिर पहाड़ोंमें—१९२० ई० की गर्मियोंमें वह फिर पहाड़ोंमें थे। जम्मू गये, वहाँसे ऊधमपुर और मधुबनीमें विचरते वैद्यों और वनस्पतियों-से परिचय प्राप्त करते डलहौजी जा पहुँचे। २ अक्तूबर १९२० को लोक-मान्य तिलकका देहान्त हुआ था। उस दिन स्वामी हरिशरणानंद डलहौजी-के पास बनी खेतमें ठहरे थे। स्वामीकी जैसी प्रकृतिके आदमीके लिए लोकमान्यके प्रति अधिक आस्था होना स्वाभाविक था। तिलक कौटिल्य थे, और गांधी उनकी दृष्टिमें साधु-महात्मा। तिलककी गीताको वह कई

बार बढ़ चुके थे। उनके 'औरायन' ग्रंथके पढ़नेसे उन्हें मालूम था, कि तिलक शास्त्रों-वेदोंके भी पारंगत पण्डित हैं। अब जाड़ा आ रहा था। अक्तूबरके अन्तमें वह पठानकोट चले आये। फिर तराई ही तराई होशियारपुर जा पहुँचे। वहाँसे बंगा, गढ़शंकर घूमते नालागढ़ पहुँचे। यह सारी यात्रा वैद्यों और जड़ी-बूटी जाननेवाले साधुओंसे मिलने-जुलनेके लिए हुई थी, और इसमें उन्हें कई अनुभूत दवाइयाँ (योग) मिलीं। बंगा-केपास एक सन्त रहा करते थे। उनसे उन्हें 'नीलकण्ठरस' और बालकोंकी चूंड़ी दो योग मिले थे।

फार्मेसीका स्वप्न—आयुर्वेदका ज्ञान अब काफी अर्जित कर लिया था। घूमनेकी इच्छा भी नहीं रह गई थी। अब अर्जित ज्ञानका उपयोग करना चाहते थे। वैष्णवदासके साथ उन्होंने फार्मेसी खोलनेका संकल्प किया था। अकेले ऐसा काम हाथमें लेनेमें हिचकिचाहट होती थी, लेकिन वह ख्याल स्वामीके दिमाग से हटा नहीं था। स्वामी अम्बाला पहुँचे। उनकी बहुत-सी पुस्तकें स्यालकोटमें एक भक्तके पास पड़ी थीं। वहाँ भी पहुँचे। सर्दियाँ भी खतम हो गईं। टांडाका एक आदमी उनके पास आया। उसकी स्त्री बहुत समयसे बीमार पड़ी हुई थी। उडमल कांडेमें जाकर एक महीना चिकित्सा करते रहे। स्त्री अच्छी हो गई, और आदमीने स्वामीको सौ रुपये दिये। पासमें ही एक सोनारका घर था। वह लायलपुरकी ओर किसी गाँवमें जाकर रहता था। वहाँ उसे किसी महात्माने श्वेतकुष्टकी जड़ी बता दी थी, जिसकी एक बोरी भरकर सोनारने अपने घर भेजी थी। रातको एक समय भैंस खुल गई। उसने सारी बोरी साफ कर दी। भैंसको फुलवहरी थी, अर्थात् जगह-जगह चमड़ेका रंग सफेद हो गया था। बूटी खाते ही उसकी फुलवहरी जाती रही। यह किस्सा स्वामीने सोनारकी स्त्रीसे सुना। उन्होंने समझा, यह तो अद्भुत बूटी है। यदि यह हाथ लग गई, तो कितना बड़ा काम हो सकता है। उन्होंने सोनारका पता पूछा, और लालामूसासे लायलपुरकी गाड़ी में बैठ गये।

चकभूमरा—रातको गाड़ीमें आते सो गये। टिकट और रुपये गाँठमें

बँधे हुए थे। किसीने चुपकेसे निकाल लिये। चकझूमरा स्टेशन पर पहुँच-नेपर आँख खुली। देखा, टिकट और रुपये नदारत। पासमें बिस्तरा, लोटा और दवाइयोंका बक्स था। बिना टिकट कभी सफर नहीं किया था। डरके मारे वहीं उतर गये। बाबूसे कहा—'हमारे पास लालामूसासे गोजरे तकका टिकट था, गिरहकटने टिकट और पैसे ले लिए। टिकट बाबूने कहा—"ऐसे बहाने हमने बहुत सुने हैं। हम कुछ नहीं जानते। दवाइयोंका बक्स और लोटा यहाँ रख कर किराये का पैसा माँग लाओ, तब अपना सामान ले जाना।" चकझूमरामें साधुका कोई स्थान नहीं था। श्मशान घाटके पास एक कुटिया बनी थी। आये-गए साधु वहीं ठहरा करते थे। वहाँ पहुँचे, तो देखा गाँजा-सुलफा पीनेवाले भक्तोंका काफी जमघट था। उन्होंने स्वामीकी आवभगत की। पूछा-पेखी हुई। स्वामीने आपबीती सुनाई। भक्तोंने देखा, कि यह पढ़े-लिखे साधु हैं, और दवादारू भी जानते हैं। उस समय कुटियामें कोई साधु भी नहीं था। यदि यह रहना स्वीकार करें, तो कितना अच्छा होगा। सब गँजेड़ी भक्तोंने मिलकर आपस हीमें इतना पैसा जमा कर दिया, कि स्वामीको और कहीं जानेकी जरूरत नहीं पड़ी। स्वामी जाकर अपना सामान ले आये, लेकिन पैसोंके साथ सोना-रका पता भी गुम हो गया था, इसलिए उधर जानेकी अब कोई जरूरत नहीं थी।

चकझूमरा लायलपुरके इलाकेमें है। यह इलाका वीरान पड़ा हुआ था। पानीका अभाव था, नहीं तो धरती सोना उगनेवाली थी। अंग्रेजोंने यहाँ नहर निकाली। जंगलमें मंगल होने लगा। हरे-भरे गाँव बस गए। अनाज-कपासके बेचनेके लिये मण्डियोंकी जरूरत थी। इस प्रकार चक-झूमरा एक अच्छी-खासी मण्डी बन गया। वहाँ कपास औटनेकी दो मिलें स्थापित हो गई। झेलम नदीके किनारे चिन्यौट एक प्राचीन नगर है। नगर उजड़ते-बसते रहते ही हैं। जब व्यापार चला, तो एक गुमनाम स्थान नगर बन गया, जब व्यापारका सहारा नहीं रहा और दूसरी जगह कोई मण्डी बनने लगी, तो लोग चुम्बककी तरह उधर खिंच कर चले गये। इसी तरह चिन्यौटके लोग चकझूमराकी मण्डीमें अधिकतर चले आये।

नदी दूर थी, इसलिए हिन्दुओंने यहीं एक श्मशान बना लिया था। श्मशानके पास काफी जगह घेरकर एक कूआँ, एक बहुत बड़ा बगीचा और उसीके बीचमें साधुके लिए एक अच्छी-सी कुटिया बना दी। मण्डीमें आढ़तियोंके पास जो भी चीज बिकने आती, तौलते वक्त कुटियाके नामपर एक पसर धर्मादानके लिये निकाल दिया जाता। कपास, गेहूँ, सरसों सभी चीजोंका धर्मादा निकलता, और फसलके मौकेपर रोज १५-२० रुपये जमा हो जाते। इस प्रकार श्मशानकी कुटिया गरीबकी कुटिया नहीं थी। उसीकी देखभालके लिए भक्तोंने स्वामीको ठहराया। धर्मादाके पैसे लेनेके लिए बनियोंके पास जाना पड़ता। स्वामीको यह काम अच्छा नहीं जँचा और उन्होंने इसके लिए एक ब्राह्मणको नौकर रख लिया। वही सारे दिन धर्मादेके दानेको इकट्ठा करता, और शामको एक दूकान पर जमा कर देता। उसे बेचकर अढ़तिये स्वामीके पास पैसे भेज देते। तीन ही महीनेमें उनके पास आठ सौ रुपये जमा हो गये। भक्तोंने सलाह दी, कुटियाके चारों ओर चहार दिवारी बना दी जाय। स्वामीने जवाब दिया—एवमस्तु। उनकी चिकित्सा भी चमक उठी थी।

इस समय असहयोग-आन्दोलन जोरोंपर था। पंजाबमें मुसलमानोंमें तो कम, पर हिन्दुओंमें काँग्रेसके प्रति काफी भक्ति थी। मण्डियोंमें हिन्दू छाये हुए थे। हरेक मण्डीमें काँग्रेस कमेटियाँ बनी थीं। चकझूमर ही केवल ऐसी मण्डी था, जहाँके शतप्रतिशत चिन्यौटिये आढ़तिये झोलीचुक (अंग्रेजोंके भक्त) थे। काँग्रेसका नाम लेनेसे भी वहाँ लोग डरते थे। मण्डीका चौधरी बरकतराम तो हद दर्जेका डरपोक था। वह काँग्रेस कमेटी बनने नहीं देता था। कहता था—"ऐसा करोगे तो अंग्रेज मण्डी बरबाद कर देंगे।" लेकिन चिन्यौटियेके लड़कोंमें नया खून था, जोश था; पर चौधरीके डरके मारे आगे नहीं आते थे। स्वामीकी चिकित्सा चल निकली थी। यद्यपि वह पैसा नहीं माँगते थे, किन्तु रोग अच्छा होनेपर लोग स्वतः दस-बीस रुपया दे जाते। कुटियाके धर्मादेसे भी वह खर्च कर सकते थे, लेकिन जब उन्हें अपनी चिकित्सासे पाँच-सात रुपये रोज मिल जाते तो उसकी जरूरत नहीं थी।

चकझूमरामें कॉंग्रेसका कोई काम न हो, यह स्वामीके लिए सोचनेकी भी बात नहीं थी। उन्होंने निश्चय किया, यहाँ भी कॉंग्रेस कमेटी स्थापित करनी है। दो-चार नवयुवक साथ देनेके लिए तैयार थे, पर आगे आनेमें हिचकिचाते थे। सुल्फिये भक्तोंके सामने भी यह विचार प्रकट किया। उन्होंने इसकी खबर बरकतरामके पास पहुँचा दी। बरकतराम अपनी ही मण्डीके धर्मादेके स्थानपर बैठे साधुको कॉंग्रेस कमेटी कायम करते कैसे देख सकते थे? स्वामीको भी चौधरीकी टीका-टिप्पणीका पता लगा। वह धौंसमें आनेवाले जीव नहीं थे। कुटिया छोड़ बाजारमें किरायेपर मकान लेकर वह वहाँ चले आये। उन्हें श्मशान अगोरनेकी न कोई इच्छा थी, न जरूरत ही। राली ब्रादर्सकी बहुत बड़ी फर्म गल्लेका रोजगार करती थी, जिसमें एक नौजवान क्लर्क थे लाला रामकिशन। वह हारमोनियम अच्छा बजाते-गाते थे। लाला रामकिशन स्वामीका साथ देनेके लिए तैयार हो गये। रलाराम आर्यसमाजी बड़े पक्के और जेल जानेके लिए भी तैयार थे। वह भी सहायक मिले। स्वामीने अब अपने दोनों पारषदोंके साथ रावणकी लंकामें कॉंग्रेसी सभा करनेका निश्चय किया। सभाके बानी आर्यसमाजी थे। उन्होंने हरेक सभामें बाजा और भजनको अनिवार्य कर दिया था। बाजा बजानेके लिए तो रामकिशनजी थे, पर भजन बना-बनाया मौजूद नहीं था। स्वामी रातको बैठ गये और उन्होंने तीन भजन लिख डाले। पहला था—

१—भारत माताकी आरती—

ओम जय भुवि अम्ब हरे, जय जगदम्ब हरे।
तू धारणि जगकारणि संकट विपता हरे।
पर, शिक्षाके लालच हो गये हम निगुरे।
करम-धरम सब भूले सेवा तव बिसरे।
जैसी करनी वैसे ही हम कष्ट सहे।
अब तो पुत्र उबारो छमि अपराध हरे।
होवे पुत्र नलायक क्या माता बिसरे।
हम सब दीन अनाथा संकट माँही घिरे।

जब जब कष्ट पड़े पुत्रनपर तब तू धाई।
पुत्र बचावन हेतु जगत्पति जा ल्याई।
पर बन्धनके मारे संकट प्राण हरे।
अब तो पुत्र उबारो नहिं तो जात मरे।
ना हम किसैं सतावैं ना हम परसत्वै छीनें।
तापर जुलमी हमपर जुल्म करें हीने।
कर जोड़े सुत ठाड़े चरनन ध्यान धरे।
जननी होउ सहायी विपतासे उबरे।
दुखहारनि सुखकारनि हे अम्बे त्राता।
लालन पालनवाली जगजीवन दाता।

२—लेकिन पंजाबमें हिन्दीसे उर्दू ज्यादा चलती थी, यह स्वामी जानते थे। इसलिए उन्होंने उर्दूकी भी टाँग तोड़ते हुए कहा—

मैं गाँधी पै जानो-जहाँ बेचता हूँ। खरीदो कोई मैं हमाँ बेचता हूँ।
मुशक्कतसे मैंने कमाया है सारा। खुले दिलसे अपनी जमाँ बेचता हूँ।

३—फिर पंजाबीकी भी तुकबन्दी की—

की लगदी सरकार साडीकी लगदी।
सात समुन्दर पारों बसदी बन बैठी मुखत्यार। साडीकी लगदी।
कर दी जारत हिन्द बीच आई हो गई गलेदा हार।
न ए साडी जातबिरादर ना ए रिश्तेदार।
हमका लेव गोरी खलना मिलन न लक्ख हजार।
न हम उसदे न वह साडी मुफतों ही करदी रबार।
मन्नो न मन्नो बणदी जाँदी जब रोई हकदार।
न्याव नु चूल्हे विच है पाया हत्थ फड़े हथियार।
बदोबदी वो टिकसाँ लौंदी लूट रही बदकार।
जदों ते साडे हिन्द बिचआई धरम रहा ना प्यार।
कौम दी जेहड़े खिदमत करदे उन्हांनु लांदी मार।
नांव मुन्सफी रिशवत लाँदी ला दी करे पुकार।
कहंदा स्वामी देखो लोगो है डाकू दी यार।

८ नवम्बर १९२१ की बात है। चकझूमरा मण्डीके चौकमें कॉंग्रेस-की सभाकी मुनादीका ढोल बज रहा था। चौधरी बरकतराम धवनने जो आवाज सुनी तो पूछा—"वेख, ये कादा ढोल खड़कदा ई ?" आदमीने कहा—"कॉंग्रेसदा जलसा होण जा रया है।" चौधरीने कहा—"फड़के लाओ, मारु जुत्ते।" चौधरीने ढिंढोरा नहीं पिटने दिया। फिर क्या था ? छोटे-छोटे बच्चोंमें जोश आ गया। उनके हाथमें स्वामीने कनस्तर दे दिये, जिन्होंने सारी मण्डीमें मुनादी कर दी। शामको मैदानमें सभाके लिए मेज-कुर्सी लगा दी गई। लाला रामकिशनने हारमोनियमपर अपनी अँगुलियाँ फेरनी शुरू कीं। बैठनेके लिए टाट बिछा हुआ था, जिसपर बच्चोंकी सेना आ बैठी थी, लेकिन बड़े आदमियोंमें कोई भी बैठने नहीं आया। दूर-दूरसे वह तमाशा देखते रहे। महाशय रलाराम सभापति बने। उन्होंने एक छोटी-सी स्पीच देकर कहा, स्वामीजी और बातें बतलायेंगे। स्वामीने पहला राजनीतिक भाषण दिया—कॉंग्रेस क्या चाहती है, स्वतन्त्रता क्या है, और हम क्यों उसे चाहते हैं। सभाके अन्तमें कॉंग्रेस कमेटीका चुनाव हुआ। महाशय रलाराम प्रधान और स्वामीजी मन्त्री तथा तीन और सदस्य चुने गये। अब तो रोज ही शामको स्वामीजी सभा करने लगे। सभामें शामिल होनेमें किसीके ऊपर आफत न पड़ते देखकर धीरे-धीरे लोगोंकी हिम्मत बढ़ी और टाटपर बैठनेवालोंकी संख्या बढ़ती गई। स्वामी रोज नई कविता बना कर लाते। कवितायें उसी कालके लिए थीं और उसके साथ ही कालके गालमें चली गईं। उनमेंसे कुछ इस प्रकार हैं, जिनके देखनेसे मालूम होगा कि योगके पीछे पागल स्वामीके दिमागमें अब क्या-क्या विचार उठ रहे थे—

(१) खुदाई ताकत है तुझमें गाँधी, सिसक रहे हैं बचा ले आजा।
सता रहे हैं हमें यह जालिम, लबोंपै दम है छुड़ा ले आजा।

(२) तू आँख खोल देख जमाना आनेवाला है, बहुत चल चुकी धींगामुश्ती।
लूट-खसूट जबरकी कुश्ती, जोर जुल्मका राज कुछ दिनोंमें जानेवाला है।

(३) सुन नोकर दफ्तरके पीछा नहिं छड्डाँगा मरके।

है आजादी सबाँनु प्यारी, दुनिया कर ही लेण दी प्यारी।
तू रोकै तेरी अक्कल मारी ले लेवांगा लड के। पीछा नहिं०।

वह समय आनेमें देर नहीं लगी, जब कि चकझूमरामें कॉंग्रेस कमेटी बहुत मजबूत हो गई, उसके डेढ़ सौ मेम्बर बन गये। स्वामीने व्याख्याता बननेके रास्तेपर यहीं पहलेपहल पग रक्खा था और कुछ ही दिनोंमें वह अच्छे वक्ता बन गये। उनका सारा समय कॉंग्रेसमें लगता, चिकित्सा रोटी भरके लिए कर लिया करते।

१९२२ ई०के आरम्भ होते विदेशी कपड़ोंका बायकाट जोर-शोरसे होने लगा। स्वामीने भी विदेशी कपड़ोंकी होली जलाई। विदेशी कपड़ेके व्यापारियोंकी दूकानोंपर धरना दिया जाने लगा। गिरफ्तारियाँ आरम्भ हुई। बड़े-बड़े नेता गिरफ्तार कर लिये गये। लायलपुरमें मास्टर गुरांदत्ता-मक, जडांवालामें मास्टर मंगतलाल और लाला रामनारायण आदि पकड़ लिये गये। पिकेटिंग ढीली पड़ने लगी। स्वामीको जडांवाला भेजा गया। वहाँ उन्होंने आठ दिन तक बड़ी होशियारीसे पिकेटिंगका संचालन किया। अन्तमें गिरफ्तार कर लिये गये। १५ दिन हवालातमें रहे। कोई गवाह नहीं मिला, इसलिए मजिस्ट्रेटने छोड़ दिया। स्वामीने स्वराज्यके लिए जेलकी रोटियोंका स्वाद भी ले लिया।

अध्याय १०

वैद्यक रूढ़िवादके खिलाफ (१९२२-३० ई०)

वर्ष ३३-४१

स्वामी अब ३३ सालके हो गये थे। १९२२ ई०के अन्तमें असहयोगका आन्दोलन ठंडा पड़ गया था। विदेशी वस्त्र बहिष्कार भी बन्द हो गया था। कॉंग्रेसके नेता कहते थे, चरखा कातो, खद्दर पहनो, स्वराज्य मिल जायगा। स्वामीका इसपर विश्वास नहीं था। अब उन्होंने चकझूमराको छोड़नेका निश्चय कर लिया और फिर पुराने स्वप्नको साकार बनानेके लिए अमृतसर चले आये। चौकपासियोंमें जलालदीन कश्मीरी रंगरेजकी दूकान पाँच रुपये महीनेपर किरायेपर ले ली। उस समय वह संन्यासीके रूपमें थे। सिर घुटा हुआ था और शरीरपर भगवा वस्त्र थे। वैद्यककी पूँजी तो काफी थी ही। सिद्ध योगोंका उन्होंने बहुत अच्छा संग्रह कर लिया था। उन्हें पूरा भरोसा था कि पाँच रुपये महीनेकी कोठरीमें ही उन्हें जिन्दगी नहीं बितानी है। वह लखपति बन कर रहेंगे। चकझूमराके सामान बेचनेसे उन्हें ४५ रुपये मिले थे। इसीको लेकर वह अमृतसर आये। पाँच रुपये रास्तेमें खर्च हो गये। पाँच रुपये पेशगी किरायेके दे दिये। रोटीवालेको भी महीने भरके लिए दस रुपये पेशगी दे दिये। बीस रुपये उनके पास थे। उन्होंने उन्हें विज्ञापनपर खर्च करनेका निश्चय किया। लोग जानें कि एक अनुभवी चिकित्सक संन्यासी उनकी सेवाके लिए अमृतसरमें आया हुआ है। उन्होंने अपनी फीस कोई नहीं रक्खी और न दवाका मूल्य ही कुछ लिया। बीमार राजी होकर जो दे जाय वही बहुत। रोगियोंकी उनके पास अब कमी नहीं रही। छपे हुए इश्तिहार पढ़ कर दूसरी जगहके भी निराश रोगी उनके पास आने लगे।

स्वामीने सिद्धान्त बना रक्खा था—लाभ पहुँचा कर ही किसीसे कुछ लेना चाहिये। जिन बीमारियोंकी दवा उनके पास थी, उसे वह मुफ्त दे देते थे। जिनकी नहीं थी, उसका सामान रोगीसे मँगवा कर उसीके हाथ तैयार कराते। इश्तिहार पढ़ कर आये हुए रोगियोंमें एक आधा सीसीकी पुरानी मरीजन थी। दवा जो उन्होंने दी तो तीन दिनके भीतर ही उस महिलाका दर्द जाता रहा। वह बीस रुपया दे गई।

स्वामी कैसे अँधेरेमें कूदनेवाले थे, कैसे हिम्मती जीव थे, यह इसीसे समझ सकते हैं कि बची-खुची पूँजीको विज्ञापनमें लगा कर जो थोड़ी-सी लक्ष्मी आई थी, उससे उन्होंने एक बहुत बड़ा साइनबोर्ड बनवा कर अपनी दूकान पर लगवा दिया। नाम रक्खा स्वामी फार्मेसी, अर्थात् अपनी चिकित्साका विज्ञापन नहीं, बल्कि औषधिनिर्माणका विज्ञापन करने लगा। चिकित्साको वह पैसा कमानेका जरिया नहीं बनाना चाहते थे, क्योंकि ऐसा करनेपर रोगियोंके साथ अपना कर्तव्य पालन नहीं कर सकते थे। उन्होंने निश्चय किया, चिकित्साको तो पूजा-उपसनाकी तरह रखना है पैसा फार्मेसीमें बनी दवाइयोंसे कमाना है। पहले वह आयुर्वेदिक वनस्पतियोंके बेंचनेके व्यापारमें हाथ लगाना चाहते थे, फिर दवाइयोंको बड़े पैमानेमें बनानेका काम जनतामें अपने परिचयको अधिक बढ़ाना वह जरूरी समझते थे। यहाँ आकर वह अमृतसरके प्रत्येक वैद्यसे मिले। उस समय तक वहाँ वैद्योंका कोई अपना संगठन नहीं था। समय मिला, तो एक दूसरेसे मिल कर कुछ बात कर लिया करते। स्वामीने वैद्यमण्डल स्थापित करनेका प्रयत्न किया। अमृतसर वैद्यमण्डल नामसे वैद्योंकी एक सभा बन गई, जिसके वही मन्त्री बने। मण्डल प्रतिरविवार अपनी बैठक करता, जिसमें आयुर्वेदके सिद्धान्तोंपर वाद-विवाद होता। स्वामी दोषोंको वैद्योंके सामने उपस्थित करनेमें झिझकते नहीं थे, लेकिन वैद्य तो लकीरके फकीर थे। उन्हें नवीन चिकित्सा-पद्धति और उसके आविष्कारोंका कोई ज्ञान नहीं था। स्वामी "विज्ञान" और दूसरी किसी भी तत्सम्बन्धी पुस्तकका पता पाते ही उसे मँगा कर पढ़ते थे। वह जिन शंकाओंको प्रकट करते, उनका जवाब बेचारे पुराने वैद्य क्या देते? वह समझते थे आयुर्वेद

हमारी जीविकाका साधन है। यदि उसके ऊपर कोई आशंका करें, तो हमारी ही जड़ कट जायेगी। व्यवहार तो उनसे छू नहीं गया था। आयुर्वेदमें जिनका उल्लेख है, उन्हें भी वह जानते नहीं थे। इसी समय स्वामीको "श्राद्ध प्रकाश" और "भक्ष्यनिर्णय भास्कर" दो ग्रन्थ पढ़नेको मिले। "श्राद्ध प्रकाश" को फिल्लौरनिवासी पण्डित श्रद्धाराम (?) ने लिखा था, जो अनीश्वरवादी थे। "भक्ष्यनिर्णय" के लिखनेवाले हरद्वारके पतंजली आश्रमके स्वामी तेजनाथ थे। पण्डितने ईश्वरके खिलाफ इतनी अधिक जबर्दस्त युक्तयाँ दी थीं, कि जिससे असहमत होना मुश्किल था। स्वामी युक्तियोंसे भी अधिक साइन्सके विचारोंके कारण ईश्वरपर सन्देह प्रकट करते, डार्विनके विकासवाद, आइन्सटाइनके सापेक्षतावाद और डाल्टनके परमाणुवादके पढ़नेपर ईश्वरपरसे पूरा विश्वास उठ गया। पर, "श्राद्ध प्रकार" ने उस दिशामें बढ़ानेमें सहायता जरूर की। "भक्ष्य-निर्णय" में वेदसे लेकर बहुत से संस्कृतके धार्मिक ग्रन्थोंके उद्धरणोंको देकर यह सिद्ध किया गया था, कि मांस खाना धर्मविहित है। अनीश्वरवादकी ओर बढ़नेवालेके लिए ग्रन्थोंकी दुहाईकी कोई आवश्यकता नहीं। स्वामी कान्यकुब्ज थे, जिनकी "वंशावलीमें मांस खाना विहित लिखा हुआ है," निरालाजीका यह वचन प्रमाण था, जिसे उनके किसी मित्रने सुनाया था।

आर्यसमाजसे टक्कर—पण्डित पिण्डीदास ज्ञानीसे अमृतसरमें स्वामीजीका परिचय हुआ। आर्यसमाजी बहस करनेमें बहुत आगे रहा करते थे। एक दिन पिण्डीदास स्वामीसे उलझ पड़े। स्वामीने कहा—"मांस खाना यदि वर्जित है, क्योंकि उसमें हिंसा होती है, तो फल खाना भी वर्जित है, क्योंकि वृक्षोंमें भी तो जीव है।" इससे पिण्ड छुड़ानेके लिए आर्यसमाजियोंमेंसे कुछने यह कहना शुरू किया, वृक्षोंमें जीव नहीं है। पिण्डीदासने शास्त्रार्थ करनेके लिए चैलेंज दे दिया। लोहगढ़ आर्य-समाजमें उसका प्रबन्ध हुआ। आर्यसमाजकी ओरसे पं० बुद्धदेव और पं० रामचन्द्र देहवली आये। स्वामीजी भी वहाँ पहुँचे। स्वामीने एक बोतलमें पानी भर कर उसके मुँहपर प्याज रख दी थी। बोतलकी जड़में

प्रायः एक फुटपर मिट्टी रक्खी थी। प्याजकी जड़ें बढ़ कर मिट्टी तक पहुँचना चाहती थीं। उन्होंने अपने पास एक लाजवन्ती (छुइमुई) का पौदा भी रख रक्खा था। वृक्षोंमें जीव होनेके कई प्रयोग डा० जगदीश-चन्द्र बसुने किये थे। वह भी उनके कंठाग्र थे। इन प्रत्यक्ष प्रयोगोंके सामने आर्यसमाजी शेरोंकी क्या चलती। चौरासी लाख योनियोंमें वृक्षोंमें आना भी ग्रन्थोंमें मिलता है। स्वामीजीने कहा—जीवके छ लक्षण हैं—१. भोजनको बाहरसे अपने अन्दर लेना, २. उसे अपने शरीरके अनुरूप परिवर्तित करना, ३. गति अर्थात् हिलना-डोलना, ४. अपनी जैसी सन्तान उत्पन्न करना, ५. भीतरसे बढ़ना, ६. हवा या साँस ग्रहण करना। श्रोताओंमें अधिक लोग तो मांस-विरोधी थे नहीं, और दूसरे हिन्दू हमेशासे यही मानते आये थे, कि वृक्षोंमें भी दूसरे जन्तुओंकी तरह ही जीव है। लोग स्वामीकी जयजयकार बोलने लगे। आर्यसमाजी शास्त्रार्थी मुर्गीकी तीन टाँग कहनेके सिवा और कुछ नहीं कह सके। सनातनधर्मियोंमें स्वामीका नाम हो गया। चकझूमराकी कांग्रेस कमेटीके स्थापक अमृतसरमें उससे अलग कैसे रह सकते थे। वह यहाँकी कांग्रेस कार्यकारिणीके मेम्बर थे, और कांग्रेसके हरेक काममें भाग लेते थे। आर्य-समाजियोंके शास्त्रार्थके फलस्वरूप सनातनधर्मी लाला करमचन्द स्वामीके सहयोगी बन गये।

पठानकोटकी ओर नूरपुरके वैद्य लाला धन्वन्तरी प्रसाद वैद्यवाचस्पति उनसे मिलनेके के लिए आया करते थे। वह पठानकोटमें जड़ी-बूटियोंकी बिक्रीका काम करते थे। जिस समय १९१९ में पुलिसके मारे स्वामीने सोइयाँकलाँमें शरण ली थी, उसी समय से वहाँ बाबा गोपालगिरी उसी शिवालयमें डेरा डाल कर रहने लगे थे। गोपालगिरी भी कभी-कभी अमृतसरमें स्वामीसे आकर मिलते थे। वह भी चिकित्सा करते थे। उनका गुरुद्वारा ज्वालाजीमें था, जहाँ ही स्वामीसे उनका परिचय भी हुआ था। धन्वन्तरी प्रसादने अभी नया-नया काम शुरू किया था। वह चिकित्सक भी थे। अकेले काम करनेमें दिक्कतें होती ही हैं। ज्वालाजीकी ओरके एक पहाड़ी वैद्य ज्वालादत्त मारवाड़ियोंके खैराती दवाखानेमें

चिकित्सक थे। तीनों ज्यादा सम्पर्कमें आये। स्वामीने फार्मेसी खोलने का विचार प्रकट किया। धन्वन्तरी प्रसादने कहा—क्यों न इसके लिए हम सब मिल कर प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी बना लें। स्वामी इस बीच चार आलमारियाँ बनवा चुके थे, धीरे-धीरे दवाइयाँ भी तैयार करते जा रहे थे। एक आदमी नौकर रख लिया था। दवाइयाँ और समानके अतिरिक्त उनके पास दो सौ रुपकेकी पूँजी थी। धन्वन्तरी प्रसादके प्रस्तावको उन्होंने पसन्द किया। उन्होंने कहा—यदि चार वैद्य मिल कर ईमानदारीसे फार्मेसी चलावें, तो इसमें शीघ्र सफलता मिल सकती है। स्वामीने यह भी कहा, कि गोपालगिरि गाँवमें बैठे भस्म बनाके भेजें, धन्वन्तरी प्रसाद पहाड़से जड़ी-बूटियाँ जमा कर दें, संध्यादत्त (ज्वालादत्त) बाहर आर्डर लेनेके लिए सफर करें, और मैं यहाँ फार्मेसीका काम सँभाल लूँ, तो सब काम ठीक हो जायेगा। इसके साथ ही स्वामीने एक शर्त यह भी रक्खी, कि यदि चिकित्सा या व्यापार आदिके द्वारा किसीको कोई आमदनी हो, तो उसे भी कम्पनीका माना जाय। कम्पनीके लिए पाँच-पाँच सौ रुपयेके शेयर रक्खे गये। बाबा गोपाल गिरि ने एक मास तक, और संध्यादत्तने तीन मास तक शेयर का रुपया देनेका वादा किया। धन्वन्तरीने कुछ नगद और कुछ जड़ी-बूटियोंके रूपमें दे देनेका वचन दिया। स्वामीने दो सौ और तीन सौ रुपयेका अपना सामान दे दिया। दस रुपयेके स्टाम्पपर इकरारनामा लिखा गया। सबकी सम्मतिसे नाम स्वामी फार्मेसीकी जगह पंजाब आयुर्वेदिक फार्मेसी रख दिया गया। यह भी निश्चय किया गया, कि कुछ ही दिनोंमें दूकानको यहाँसे मजीठमण्डी या कर्माड्यौढ़ीमें ले चलेंगे।

दस्तावेज लिख जानेके बाद सब अपनी-अपनी जगह चले गये। धन्वन्तरी प्रसादने जाते ही पठानकोटसे तीन सौ रुपकेकी वनस्पतियाँ भेज दीं। कुछ धातुओंको भस्म बनानेके लिए बाबा गोपाल गिरिके पास भेज दिया गया। एक महीना भी नहीं बीता था, कि बाबाको लोभने घेरा। किसी जाट स्त्रीको उन्होंने रोगमुक्त किया था। जाटने उन्हें एक बढ़िया बछेरी भेंट की थी, जिसका दाम चार-पाँच सौ रुपये होगा।

सोइयोंके एक बनियेने खबर दी, कि बाबाजीको घोड़ी मिली है। शर्तके अनुसार बछेरी कम्पनीकी सम्पत्ति थी। महीने बाद बैठक हुई, जिसमें चारों मेम्बर शामिल हुए। स्वामीने उस महीने बीमारोंसे पौने दो सौ रुपये प्राप्त किये थे, जिसे उन्होंने हिसाबमें जमा कर दिया था। बाबा गोपाल गिरिसे पूछा गया, तो उन्होंने कहा—मुझे कुछ नहीं मिला। स्वामीने घोड़ीके प्राप्त होनेकी बात की, तो कहने लगे—उस रोगीका इलाज मैं पहले हीसे कर रहा था। पर, घोड़ी तो इकरारनामा लिखनेके बाद मिली थी, इसलिए वह फार्मेसीकी थी। गोपाल गिरि डट गये—हम तो घोड़ी नहीं देते। कहा गया—तब आप हिस्सेदार भी नहीं रह सकते। इकरारनामेकी पीठपर उनसे इस्तीफा लिया गया। अब चारकी जगह तीन जने रह गये। अगले महीने फिर मीटिंग हुई। तीनों व्यक्ति उपस्थित थे। स्वामीने अपनी आय बतला दी, बाकी लोगोंने कहा—हमें कोई आय नहीं हुई। स्वामीको पता लग गया था, कि धन्वन्तरी प्रसादने बम्बईके काकाराम जगन्नाथके पास अतीसके पाँच पार्सल भेजे थे। यह सुन कर धन्वन्तरीका रंग फक हो गया। चोरी पकड़ी गई। स्वामीने कहा—आप भी काजगकी पीठपर इस्तीफा लिखिये और अपना रास्ता नापिके।

एक ओर ईमानदारीका ढिंढोरा पीटना और व्यवहारमें ऐसा देखा जाना, कोई आकस्मिक बात नहीं थी। व्यापारिक ईमानदारी रखने हीसे व्यापारके बड़े-बड़े संगठन चल सकते हैं। युरोपके बनिये दूधके धुले नहीं हैं, लेकिन वह जानते हैं, कहाँसे नीचे चोट नहीं करनी चाहिये। स्वामीको यह तजुर्बा बहुत कड़वा मालूम हुआ। संध्यादत्तने अपने हिस्सेका पैसा देनेमें असमर्थता प्रकट की, इसलिए वह हिस्सेदार नहीं हो सकते थे। उनसे भी दस्तावेजकी पीठपर इस्तीफा लिखवा लिया। चार महीनेमें ही कम्पनीका नाटक खतम हो गया और स्वामी फिर अकेलेके अकेले रह गये।

तजर्बा असफल रहा, लेकिन स्वामी उससे हताश होनेवाले नहीं थे। धीरे-धीरे डेढ़ हजारसे ऊपरकी पूँजी दूकानमें लग गई। १९२३ का आरम्भ था उनकी चिकित्सा भी बढ़ गई थी। अनुभूत योगोंके कारण उनके

हाथसे रोगी अधिक अच्छे होते थे, इसलिए रोगियोंकी संख्या दिनपर दिन बढ़ रही थी। नमकमण्डीके लाला करमचन्दके एक मारवाड़ी मित्रके भाई लाला सीताराम माहेश्वरी तपेदिकके बीमार थे। डाक्टरोंने टी० बी० का रोग घोषित कर दिया था। तपेदिकके मरीजोंमें वह पहले थे, जिन्हें स्वामीको देखनेका मौका मिला। नकोदर (जिला जलन्धर) निवासी पण्डित नाथूराम वैद्यके पास स्वामी कई महीने रहे थे। वह राजयक्ष्माके सिद्धहस्त वैद्य माने जाते थे। नकोदरमें रहते उन्होंने सोनेकी भस्म बनाई थी। पं० नाथूराम उसीका उपयोग करते थे। स्वामीने चिकित्सा करना स्वीकार कर लिया। पर, कहा कि दवाका खर्च हमारे पास नहीं है, उसे वह स्वयं तैयार करावें। रोगी धनी था, इसलिए पैसा खर्च करनेके लिए राजी हो गया। स्वामीने स्वर्ण भस्म बनाई। (देखो परिशिष्ट ९)

स्वर्ण भस्मके साथ वसन्तमालती (रस) बना कर स्वामीने तीन महीने तक रोगीको सेवन कराया। वह बिल्कुल राजी हो गया। (वह अब बालबच्चोंवाला अच्छा स्वस्थ पुरुष है।) सेठ इतने कृतज्ञ हुए, कि उन्होंने परामर्श दिया, आप हमारे नमकमण्डी मुहल्लेमें चलें। वर्षाका दिन था। स्वामी चौकपासियाँ छोड़ कर नरसिंहदासके बाजारमें लाला राधेश्याम सीताराम माहेश्वरीके मकानमें चले आये। बारह रुपये महीने पर एक दूकान और सात रुपये महीनेपर एक चौबारा उन्हींके यहाँ उन्होंने किरायेपर ले लिया, और फार्मेसीका काम आरम्भ कर दिया। सेठने तीन सौ रुपये नगद भेंट दिये थे, जिसे स्वामीने पंजाब आयुर्वेदिक फार्मेसीकी पहली औषधि-सूची छपानेमें खर्च कर दिया। उसी साल चौदहवाँ अखिल भारतीय आयुर्वेदिक महासम्मेलन कलकत्तामें हो रहा था। वह उसमें सम्मिलित होने गये, और दवाइयोंके सूचीपत्रोंको वैद्योंमें बाँट दिया। कुछने वहीं उन्हें दवाइयोंके आर्डर भी दिये।

पञ्जाब आयुर्वेदिक फार्मेसीका आरम्भ—इस तरह सन् १९२४ में स्वामीने आयुर्वेदिक फार्मेसीका श्रीगणेश किया। नमकमण्डी करोड़पति सेठोंका गढ़ है। यहाँ परिचय बढ़ानेमें और भी सुभीता था। स्वामी

विद्याव्यसनी थे, इसलिए उनका परिचय पं० मेहरचन्द शास्त्री जैसे विद्वानोंसे भी होना स्वाभाविक था। वृन्दावनके गोस्वामीनन्दकिशोरजीका सेठोंपर काफी प्रभाव था। वह प्रभावशाली वक्ता थे। सामाजिक और सार्वजनिक कार्योंमें भी उनकी रुचि थी। स्वामी भी उनके साथी हो गये, और निश्चय किया, कि कन्याओंकी शिक्षाके लिए एक श्रीकृष्ण कन्या पाठशाला खोली जाये। कितने ही सनातनी इसके विरुद्ध थे। अभी बाजारमें अनपढ़ कन्याओंका भाव गिरा नहीं था, और न हरेक वर शिक्षाके प्रमाणपत्र तथा फोटो देखनेकी माँग करता था। लेकिन, समय उसके अनुकूल आ गया था। कितने ही नेमी-प्रेमी मिल गये और नरसिंहदास बाजारमें पाठशाला खोल दी गई। स्वामी कई वर्ष तक उसके स्तम्भ रहे। अब वह कन्या विद्यालयके रूपमें बड़ी उन्नत अवस्थामें है।

जलियाँवाला बाग-कांडमें बहुत-से लोग अंग्रेजोंके कोपके शिकार हुए थे। उनकी और दूसरे अनाथों तथा दुःखियोंकी सहायताके लिए नमकमण्डीके कुछ उत्साही नवयुवकोंने प्रेमसेवक सभा स्थापित की। सभाके लोग बीमारोंकी सेवा करते और लावारिश मुर्दोंके दाह-संस्कार आदिका प्रबन्ध करते, साथ ही काँग्रेस या मेले आदिमें पानी पिलानेका भी काम करते। उस समय सभाके प्रधान बाबा गणेशदास एक बड़े ही निःस्वार्थसेवी पुरुष थे। वह महाजनी अक्षर लण्डा (मुड़िया) भर पढ़े हुए थे। कुछ टूटी-फूटी हिन्दी भी जानते थे। उनके साथ स्वामीका परिचय और धीरे-धीरे घनिष्टता बढ़ी। स्वामी भी प्रेमसेवक सभाके सदस्य बन गये। बाबा गणेशदास गरीब रोगियोंको उनके पास ले आते और स्वामी उनकी बड़े प्रेमसे चिकित्सा करते। रोगियोंकी संख्या देखकर स्वामीने बाबाको सलाह दी—अच्छा होता सभा गरीबोंके लिए एक धर्मार्थ आयुर्वेदिक औषधालय खोल देती। बाबाने कहा—सभाके पास इतना रुपया नहीं है। स्वामीने कहा—"आपको वैद्य नौकर रखनेकी आवश्यकता नहीं है। मैं काम कर दूँगा। थोड़े दिनोंमें औषधालय स्वावलम्बी हो जायगा, खर्चकी चिन्ताकी आवश्यकता नहीं है।" बाबाने सभाकी मीटिंग बुलाई और औषधालयकी योजना सामने रक्खी। स्वामीने

भी अपनी अवैतनिक सेवा देनेका प्रस्ताव रक्खा और यह भी विश्वास दिलाया कि एक-दो महीनेमें ही औषधालय अपना खर्च आप निकाल लेगा। सभाने प्रस्तावको मंजूर कर लिया और १ जनवरी १९२५ को डाव बस्तीराममें एक दूकान किरायेपर लेकर आयुर्वैदिक धर्मार्थ दवाई-खाना आरम्भ हो गया। जिस आदमीके पास इतनी अनुभूत दवाइयाँ हो और निःस्वार्थ भावसे रोगियोंको देखकर अच्छी दवाइयाँ दे, उसके पास रोगियोंका अधिक आना स्वाभाविक था। उस समय अमृतसरमें केवल बालचरोंकी ओरसे एक डाक्टरी दातव्य औषधालय था। स्वामीके पास जितने अनुभूत योग थे, उनमेंसे कितने हीको वह रोगोंपर तजबा नहीं कर पाये थे। अब देखा कि उनमेंसे ८० प्रतिशत ठीक साबित हो रहे हैं। इस कार्यसे उन्हें एक ओर दवाओंकी परीक्षा करनेका अवसर मिला, तो दूसरी ओर धनी लोगोंसे घनिष्ठता बढ़ी। अपनी फार्मेसीके लिए ब्याजपर रुपये भी काफी मिलने लगे। दो वर्ष तक स्वामी सभाके दवाखानेमें काम करते रहे। इस बीचमें उन्हें अपने १४ नुस्खे बहुत लाभदायक सिद्ध हुए। उन्होंने उनके अंग्रेजी नाम रख कर अच्छे ढंगसे पैकिंग करके सरकारके कलकत्ताके आफिसमें रजिस्टरी करवा लिया। अभी तक हरेक दवाको अपने हाथसे तैयार करते थे, अब उन्होंने उसके लिए नौकर रख लिए। रातको बैठ कर आयुर्वेदकी पत्र-पत्रिकाओंमें लेख लिखते। इसी बीच उन्होंने अपनी पहली पुस्तक "आसव विज्ञान" लिखी, जो १९२५ ई० के अन्तमें प्रकाशित हुई। आयुर्वेदके धुरन्धर विद्वान् और समालोचक पं० शालिग्राम शास्त्रीने "माधुरी" में उसके बारेमें लिखा था—"आसव, अरिष्ट, सुरा आदिसे सम्बन्ध रखनेवाली पाश्चात्य साइन्स द्वारा निर्धारित अनेक ज्ञातव्य बातोंका इसमें समावेश है। इस पुस्तकसे वैद्योंको बहुत सहायता मिल सकती है और जो इन्हें नहीं बनाते, उनकी भी अनेक अंशोंमें ज्ञान-वृद्धि हो जाती है।"

"धनवन्तरी" ने लिखा था—"इसमें आसवको सुरा प्रमाणित करनेका विशेष प्रयत्न किया गया है। सुरायन्त्रका प्राचीन और अर्वाचीन मतसे विस्तारपूर्वक वर्णन है। आसवकी प्राचीनता, उपयोगिता, उसके

बनानेकी विस्तारपूर्वक विधि दी गई है, जो अब तक हिन्दी भाषामें प्रकाशित नहीं हुई है।"

इस पुस्तकमें स्वामीने यह सिद्ध किया था कि आसव सुराके प्रादुर्भावका आरम्भिक द्रव है, जिसे परिसुत करनेपर ही उससे जलमिश्रित मद्य उड़ कर परिसुत पात्रमें एकत्रित हो जाता है। परिसुत किये बिना यों ही छान कर रक्खा आसव अरिष्ट कहलाता है। दवाइयोंके अंशको घुला लेनेकी उसमें शक्ति है। बिना उबले द्रवको आसव कहा गया और उबलेको अरिष्ट—(अरिष्टः क्वाथसाध्यः स्यात्।) "इस पुस्तकके प्रकाशित होनेपर दकियानूसी वैद्य बड़े भड़के। गुरुकुल काँगड़ीके स्नातक, डी० ए० वी० आयुर्वेदिक कालेजके प्रिंसिपल तक लाठी लेकर पड़े। दूसरे संस्करणमें स्वामीने आलोचकोंकी खूब खबर ली और ऐसे प्रमाण उद्धृत किये जिनका उनके पास जवाब नहीं था।

उन्हीं दिनों स्वामीने तालिसपत्र, पुष्करमूल, प्रियंगु आदि वनस्पतियोंपर "बूटीदर्पण" तथा "धनवन्तरी" आदि पत्रोंमें लेख लिखे। इन दवाइयोंका अन्दाज वैद्य लोग अटकलपच्चू लगाते थे। जड़ी-बूटियोंके पीछे वह वर्षों मारे-मारे फिरे थे। जितना उनके बारेमें उन्हें परिचय था, उतना तेलीके कोल्हूके बैल क्या जान सकते थे। वैक्रांत, कंकुष्ठ आदिके विषयोंमें भी उनके लेख निकले। वैद्योंकी तो गिनी-चुनी पुस्तकें थीं। उससे बाहरकी पुस्तकों और मान्यताओंका उनको पता नहीं था। इसीलिए अपने अज्ञानके कारण वह भड़क उठते और समझते कि स्वामी जो कुछ कह रहे हैं, वह शास्त्रसम्भव नहीं है। स्वामी विज्ञानके पक्षपाती थे। आरम्भ हीसे विज्ञान परिषद्के सदस्य और 'विज्ञान' के ग्राहक थे। उनका ख्याल था, विज्ञान-विज्ञानके बीचमें दीवार खड़ी नहीं की जा सकती। आयुर्वेदकी सीमाको हमें इतना बढ़ाना चाहिये कि आधुनिक विज्ञान भी उसके भीतर आ जायँ। इससे वैद्योंके ज्ञानका क्षेत्र अधिक विस्तृत हो जायगा। वह आधुनिक ज्ञान-विज्ञानसे लाभ उठयेंगे और उनकी गति और शक्ति वैज्ञानिकोंके जैसी हो जायगी। लेकिन वैद्य इसका उल्टा

अर्थ लगाते थे। वह नवीन ज्ञानसे कोसों दूर रहनेसे ही आयुर्वेदका हित समझते थे।

इसी साल उन्होंने अपनी दूसरी पुस्तक 'क्षार विज्ञान' प्रकाशित की और आयुर्वेदके सम्बन्धमें एक वैज्ञानिक पत्र प्रकाशित करनेकी योजना भी बनाई। वह समझते थे, इससे एक पन्थ दो काज होगा—वैज्ञानिक विचारोंका प्रचार और फार्मेसीके सम्बन्धमें भी विज्ञापन हो जायगा। जनवरी १९२७ में 'आयुर्वेद विज्ञान' मासिक पत्र निकाला। उसके पहले अंकके मुखपृष्ठपर निम्न पद्य था, जिससे पत्रका उद्देश्य मालूम होगा—

हमारा प्यारा आयुर्वेद।

दुःख नसावन सुख उपजावें ऋषियोंका निर्वेद। हमारा०
प्राणिमात्रका जीवनदाता आर्य जातिका आदिसे त्राता,
त्रिविध दुःखहर शम्भु विधाता आमय-रहित सुवेद।०
जो करते थे इसकी भक्ति अन्तमें पाते सेवा-मुक्ति,
सन्तति जीवन स्वास्थ्य सुशक्ति, कल्पतरु अच्छेद।०
जिसकी रचना हुई स्वर्गमें नींव पड़ी थी निगम-गर्भमें,
उसी पुराने महा दुर्गमें, हो गये लाखों छेद।०
चारों तरफसे शत्रु-राशी, घेर रही है सत्यानाशी,
साथ न दे रहे भारतवासी, यही बड़ा है खेद।०

प्रेमसेवक सभाके धर्मार्थ दवाखानेमें रोज डेढ़-दो सौ रोगी आते थे, जिनसे एक-दो बजेसे पहले छुट्टी नहीं मिलती थी। फार्मेसीके लिए दवाइयोंके बनवानेमें भी समय लगता। कांग्रेसके अधिवेशनों और जलसोंमें भी जाना पड़ता। 'आयुर्वेद विज्ञान' के लिए लेख लिखनेका भार भी उनके ऊपर था, इसलिए प्राइवेट प्रेक्टिसका समय बहुत कम ही निकाल पाते! सभाके औषधालयमें काम करते उन्हें मंथर ज्वर (टाइफाइड) के काफी रोगियोंको देखनेका अवसर मिला। इस अनुभवसे दूसरोंको भी अवगत करनेके लिए उन्होंने 'मंथर ज्वरकी अनुभूत चिकित्सा' के नामसे अपनी तीसरी पुस्तक प्रकाशित कराई।

फार्मेसीका काम—दवाइयोंके बनानेका काम तेजीसे बढ़ रहा था।

स्वामी हर साल वैद्य-सम्मेलनोंमें जाते। वहाँ अपने विचारोंको रखते, फार्मेसीका प्रचार करते और वैद्योंसे आर्डर लाते। उनके भाषणोंकी वैद्योंपर अच्छी धाक जम गई थी। सम्मेलनोंके समय वैद्योंके नाम-पते जमा करते-करते वह २० हजारसे अधिक हो गये। 'आयुर्वेद विज्ञान' के साथ अब फार्मेसीकी दवाओंका सूची-पत्र भी समय-समयपर निकलता। 'आयुर्वेद विज्ञान' को उन्होंने पहले दो हजार वैद्योंके पास भेजा। वहाँसे आर्डर आने लगे। अमृतसरके व्यापारियोंसे परिचय प्राप्त करनेका लाभ यह था कि उन्हें उधार माल मिलने लगा। एक बार साख कायम हो जाय तो आदमी हजारोंका माल बाजारसे उधार ले सकता है। उधार रुपयेके लौटनेकी मियाद एक मासकी होती थी। इतने बीच होशियार आदमी उसीसे रुपया पैदा करके लौटा सकता है। फार्मेसीका काम तेजीसे बढ़ने लगा। वैद्य भी सूची-पत्रको पढ़ कर आर्डर भेजने लगे। काम इतना बढ़ गया कि नरसिंहदास बाजारकी दूकान छोटी पड़ गई। अब स्वामी मौकेकी कोई बड़ी दूकान ढूँढ़ने लगे। मार्केटमें दूकानोंका किराया बहुत था। पास होमें बहियाँवाला बाजारमें एक दूकान कितने ही समयसे खाली पड़ी थी। वह आगेसे चौड़ी किन्तु पीछे तंग थी। ऐसी दूकानको लोग शेरमुँहकी दूकान कहते थे। जो व्यापारी दूकान को बनवा उसमें बैठा, छ-सात महीनेके भीतर उसका दिवाला निकल गया। दूकान बिक गई। उसे एक पड़ोसी बूटामल बहियाँवालेने खरीद लिया था। ६०-७० रुपये महीने लायक बड़ी दूकान थी, लेकिन कौन उसे लेकर अपना दिवाला निकलवानेके लिए तैयार था? स्वामी भयंकर श्मशानोंमें रह चुके थे, वह क्यों डरने लगे। दूकान बड़े सस्ते तीस रुपये मासिक पर उन्हे मिल गई। यार-दोस्तोंको मालूम हुआ, उन्होंने बहुत समझाया—"दूकान बड़ी मनहूस है, शेरमुँह है। इसे कभी नहीं लेना चाहिये।" उत्तर था—साधु होकर हम यदि ऐसी बेवकूफियोंको मानने लगे, तो फिर क्या ठिकाना। बिना मुहूर्त देखे १ जनवरी को उसी दूकानमें आ गये। घर तिमंजिला था, जिसमें रहनेके और फार्मेसी के लिए काफी जगह थी। तीन वर्षमें ही शेर-मुँह दूकानने फार्मेसीको

खूब चमका दिया। काम इतना बढ़ गया, कि वह तिमंजिला मकान भी छोटा मालूम होने लगा।

फर्वरी १९२९ में नौकरों पर दूकानका प्रबन्ध छोड़कर स्वामी वैद्यों से मिलने और आर्डर लानेके लिए निकल पड़े। सारे राजस्थानमें फिरे। फिर मालवामें घूमते, गुजरात-काठियावाड़ पहुँचे। बम्बई भी देखी। वहाँसे महाराष्ट्र, बरारका चक्कर लगाते छ महीनेमें लौटे। बीच-बीचमें आर्डर भेजते जाते थे, जो २० हजारसे ऊपरके हो गये थे। अभी तक वह पहाड़ोंके घुमक्कड़ थे, अब मैदानमें आयुर्वेदके लिए घुमक्कड़ी करने लगे। १९३० ई० में फिर उन्होंने पाँच महीने घूमनेमें लगाये। अबकी गोवा, कर्नाटक, मैसूर, बीजापुर, निज़ाम हैदराबाद गये, और १७-१८ हजारका आर्डर लाये। इन दो चक्करोंने फार्मेसीकी स्थितिको बहुत मजबूत कर दिया। उन्होंने १९२७ ई० में "आयुर्वेद विज्ञान" के तीन अंक निकाले। पत्रकी समालोचना अच्छी निकली थी। स्वामीकी आशा थी, कि जल्दी ही इसकी ग्राहक-संख्या काफी हो जायगी, लेकिन वह सौसे अधिक नहीं हुई। इतने ही अंकोंमें गाँठके एक हजार रुपये चले गये, और आय हुई थी केवल २५० रुपये। यद्यपि उससे वैद्य-समाजपर प्रभाव अच्छा पड़ा था, किन्तु आरम्भ हीमें इतना घाटा उठाना उन्होंने उचित नहीं समझा, और पत्र बन्द कर फार्मेसीका सूची-पत्र निकाल दिया करते थे।

१९३० की यात्रासे लौटने पर स्वामीने देखा, अब इस दूकानमें काम नहीं चल सकता। मजीठमण्डीमें दो बड़ी-बड़ी दूकानें खाली पड़ी थीं। ढाई मंजिला इमारत ८० रुपये महीनेमें लेकर वह अपनी फार्मेसी वहाँ उठा लाये। यात्राके समय पं० देवराज शास्त्री फार्मेसीके प्रबन्धक थे। वह तीन वर्ष तक उनके साथ रहे। हरेक आदमी जीवनमें आगे बढ़नेकी आकांक्षा रखता है, इसलिए स्वाभाविक ही था, कि शास्त्री औषधि-निर्माण, वैद्योंके पते आदिको नोट करते रहते। स्वामीके लिए भी यह स्वाभाविक था, कि अपने व्यवसायमें दूसरा प्रतिद्वन्द्वी पैदा होनेका मौका न दें। वहाँ प्रतिद्वन्द्वियोंकी क्या कमी थी? वैद्य ईर्ष्या

करते थे—कहाँसे बाहरसे आकर यह संन्यासीने आयुर्वैदिक फार्मेसी स्थापित कर दी, और उसे जमा ही नहीं दिया है, बल्कि कुछ भूमि भी खरीद ली। स्वामीके प्रबन्धक फार्मेसीके रहस्यको दूसरे वैद्योंको बतला आते थे। फार्मेसीसे अलग किये जाने पर उन्होंने दूसरे वैद्योंसे मिल कर पासमें ही एक दूकान ले दूसरी फार्मेसी खोल दी। प्रतिद्वन्द्वियोंने अपने आदमी बाहर भेजकर स्वामीकी फार्मेसीको बदनाम करनेका भी भारी प्रयत्न किया। लेकिन, स्वामीका व्यवहार बहुत खरा होता था, इसलिए लाख प्रयत्न करनेपर भी जिन वैद्योंका सम्बन्ध स्वामीसे हो चुका था, उन्होंने उसे नहीं छोड़ा। इस प्रकार बालग्रहसे फार्मेसीको आँच नहीं आई।

मर्जाटमण्डीमें आकर स्वामीने गुरुकुलके स्नातक श्री योगेन्द्रपाल आयुर्वेदालङ्कारको अपना मनेजर बनाया। औषधि-निर्माण, रस, भस्म आदि स्वयं अपनी देखरेखमें बनाते थे। उनका ध्यान इस ओर था, कि औषधियोंके योगके जो नुस्खे तैयार किये गये हैं, उनको पूर्वाचार्योंने किस सिद्धान्तके ऊपर माना था, और जो कूपीपक्वरस बनाये जाते हैं, वह किन धातुओं और अधातुओंके योगसे बनते हैं। भस्में किन धातु और अधातु तत्वोंके योगकी होती हैं। इसी बीच स्वामीने आधुनिक रसायनशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, जीव रसायनशास्त्र, आधुनिक औषधि निर्माणशास्त्रका भी अच्छी तरहसे अध्ययन किया, जिससे धातुओंकी भस्मों और रसोंके वास्तविक स्वरूप समझ में आने लगे। उन्होंने कई भस्मों और रसोंको तैयार कर विश्लेषणके लिए प्रतिवस्तु १६ रुपया फीस देकर कलकत्ताकी सरकारी प्रयोगशालामें भेजा, जिससे उन्हें वास्तविक यौगिक सूत्र मालूम हो गये। स्वामी अच्छी तरह समझते थे, कि हमारी भस्मों और रसोंका विश्लेषण करके वही अच्छी तरह बतला सकते हैं। आधुनिक रसायनशास्त्रके पास इतनी विधियाँ और यन्त्र हैं, कि आयुर्वेदके किसी योगका रसायन-सूत्रोंके रूपमें बतलाना उनके लिए मुश्किल नहीं है। वैद्योंको आयुर्वेद और रस-सम्बन्धी अपने प्राचीन इतिहासका भी कोई ज्ञान नहीं होता। वह आधुनिक

विज्ञानको तुच्छ दृष्टिसे देखना अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं। वह तो आयुर्वेदको ब्रह्माकी तरह अनादि मानते हैं। रसशास्त्र भी उनके लिए सतयुगसे चला आया है। स्वामीके अध्ययन और अनुशीलनने बतला दिया, कि वैद्योंके यह विचार निराधार और अंधविश्वास मात्र है। तांत्रिक ग्रन्थोंके अध्ययनसे उन्हें पता लगा, कि ईसाकी आठवीं शताब्दी से पहले वैद्य धातु-भस्मोंका नाम भी नहीं जानते थे, और न उसका उपयोग करते थे। पुरानी बात सभी ठीक है, यह धारणा गलत है। हमें आधुनिक ज्ञान-विज्ञानसे भी लाभ उठानेमें झिझकना नहीं चाहिये—स्वामीके ये विचार थे, जो वैद्योंके गलेसे नीचे उतरनेवाले नहीं थे।

यद्यपि औषधि-निर्माणमें वह आयुर्वेदकी विधिका पूर्णतया अनुसरण करते थे, लेकिन सोचते जरूर थे, कि ऐसा ही क्यों करना चाहिये। यदि विधिमें कुछ परिवर्तन किया जाय, तो उससे क्या हानि है, इसे वह अच्छी तरह देखने और समझने की कोशिश करते थे, और जब नये ढंगसे भी वह औषधि बनानेमें उसी परिणामपर पहुँचते, तो "बाबा वाक्यं प्रमाणं" क्यों मानने लगे। उन्होंने देखा कूपीपक्वरस चाहे लकड़ीकी आगपर बनाये जायें, या पत्थरके कोयलेकी आगपर, विश्लेषण करने पर उनके गुणोंमें कोई अन्तर नहीं आता। उन्होंने पत्थरके कोयले की आगपर रससिन्दूर, चन्द्रोदय आदि रस बनाये। आरम्भमें रूढ़िवादी वैद्योंने इन रसोंकी निन्दा की। स्वामीके प्रतिद्वन्द्वी तो छिद्र ढूँढ़नेके लिए तैयार ही थे। उन्होंने प्रचार किया पंजाब आयुर्वेदिक फार्मेसीकी दवाइयाँ शास्त्र-सम्मत विधिसे नहीं बनाई जातीं। स्वामीने अपने प्रति-द्वन्द्वियोंको चैलेंज दिया, कि यदि कोई हमारे रसोंको निर्गुण सिद्ध कर दे, तो हम उसे एक हजार रुपया देंगे। वैद्योंने पत्थरके कोयलेपर बने रसोंका प्रयोग किया और किसीने उन्हें गुण-रहित नहीं सिद्ध किया। कूपीपक्वरस स्वामीके औरोंसे सस्ते पड़ रहे थे। फिर व्यापारमें उनका मुकाबिला कौन कर सकता था? अन्तमें दूसरे फार्मेसीवाले भी स्वामीकी विधिसे कूपीपक्वरस बनाने लगे—लकडीकी अपेक्षा पत्थरके कोयलेप र

बने रसपर लागत कम आती थी। आयुर्वेदके क्षेत्रमें स्वामीने यह पहली विजय प्राप्त की।

फार्मेसीकी स्थिति अच्छी हो गई। उन्हें अपने विचारोंके प्रचारके लिए एक पत्रकी आवश्यकता थी। गलत या सही स्वामीकी यह धारणा रही है, कि पत्र-पत्रिकाओंके विज्ञापनमें रुपया फँकना ठीक नहीं है। जहाँ तक व्यापारकी सफलताका सम्बन्ध है, उनकी यह धारणा बिल्कुल गलत थी। यदि एकने विज्ञापनबाजीसे अपनी एक दवाई जमा ली और लाखों रुपये कमाये, तो दूसरेके लिए रास्ता रुक नहीं जाता। अमृतधारा और सुधासिन्धुके उदाहरण हमारे सामने हैं। विज्ञापनका दरवाजा खोलते ही व्यवसायका असीम क्षेत्र खुल जाता है। स्वामी दूसरोंको दकियानूसी कहते थे, लेकिन विज्ञापनके सम्बन्धमें उनके विचार भी दकियानूसी थे, इसमें शक नहीं। हाँ, वह अपने पत्रमें विज्ञापन देनेके अथवा सूची-पत्रोंको बाँटनेके विरोधी नहीं थे। इसे आधा तीतर आधा बटेर कह सकते हैं। अब उन्होंने फिर "आयुर्वेद विज्ञापन" को जनवरी १९३१ से प्रकाशित करना शुरू किया, और यह कई वर्षों तक बराबर निकलता रहा।

त्रिदोषपर प्रहार—जिसने लकड़ीके ईंधनको हटाकर पत्थरके कोयले को अपनाया हो, जो विज्ञानके आविष्कारोंसे आयुर्वेदवालोंके लाभ उठानेका पक्षपाती हो, जो धार्मिक तथा दूसरी रूढ़ियोंको न मानता हो, उसे आयुर्वेदकी पुरानी रूढ़ियोंपर प्रहार करनेसे कैसे संकोच हो सकता है? स्वामी समझते थे, वात-पित्त-कफकी कल्पना करके रोगोंका निदान या औषधि करना बेकार है। इन तीनों दोषोंको न माननेसे चिकित्साके सिद्धान्त और उपायमें कोई फर्क नहीं पड़ता। उन्होंने पत्रों-में सूचना निकाली, कि जो त्रिदोषवादको ठीक सिद्ध कर दे, उसे आयुर्वेद महासम्मेलनकी ओरसे हम पाँच सौ रुपया इनाम देंगे। सूचना थी—

"त्रिदोष सर्वस्वं त्रिधातुसर्वस्वं संस्कृत निबन्धो भागद्वयात्मकः।" पारितोषिकंपंचशत रु०, लेखनावधिः २०-६-३२ मिति, फुल्स्केप साइज १५० पृष्ठ तोऽन्यूनः। वामनशास्त्री दातार वैद्य, मन्त्री, नासिक।"

कई सालोंसे त्रिदोष सिद्धान्तके बारेमें अमृतसरके वैद्यमण्डलमें और दूसरे बड़े-बड़े वैद्योंसे विवाद कर चुके थे। उन्होंने जो शंकाएँ उठाई थीं, उसका समाधान कोई भी वैद्य नहीं कर सका था, इसलिए उनको पक्का मालूम था, कि इस सिद्धान्तका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है, और रूढ़िवादके बलपर वह बहुत दिनों तक टिक नहीं सकता। इसमें शक नहीं, हमारे देशमें त्रिदोषवाद पण्डित-मूर्ख सबकी जीभपर देखा जाता है। अपढ़-गँवार आदमी भी पेटमें दर्द होनेसे तड़पता हुआ कहता है, मेरा पेट फूल रहा है, बाई बढ़ गई है। बाई (बात) चढ़नेकी भी बात कहते हैं। जब गर्मी और प्यासकी तकलीफ होती है, तो कहा जाता है, पित्त बढ़ गया। मुँह-नाकसे बलगम निकलते देखकर श्लेष्मका प्रकोप प्रत्यक्ष दिखलाया जाता है। वैद्यके पास भी जब कोई रोगी आता है, तो रोगका कारण चाहे कुछ भी हो, वह सबसे पहले नाड़ी देखकर कहता है, आपके भीतर बात, पित्त, कफमेंसे एक या दो दोष बढ़े हुए हैं। रोगी चारपाईपर पड़ा हो, ज्वर बहुत तेज हो, तो वैद्य महाराज त्रिदोष कह देते हैं। किस दोषका क्या परिणाम होता है, इसके बारेमें जो बातें लिखी-लिखाई हैं, उनमेंसे २०-२५ सैकड़ा तो किसी में भी मिल सकती हैं। यदि कोई लक्षण न मिले, तो रोगीके कहे लक्षणके अनुसार वैद्यजी अपने विचार भी बदल देते हैं। मिश्रित लक्षणवाले त्रिदोषवादको स्वामी ऐसी मुलायम मोमकी नाक समझते थे, जिसे आसानीसे जिधर चाहे उधर मोड़ा जा सकता है, और रोगीका विश्वास भी बना रह सकता है। एक ही रोगी अपनेको दस वैद्योंको दिखावे, तो सारे वैद्योंकी राय एक नहीं होगी। कोई बातको बढ़ा हुआ बतलायेगा, कोई और किसीको, और कोई मिश्रित लक्षण। लोगोंपर विश्वास जमानेके लिए वह कहते हैं—आप चिकित्सा करा कर देखें, यदि लाभ हो, तो समझें इस वैद्यका निदान ठीक है। वैद्य यह भी कहते हैं—"तजर्बा बड़ी बात है, तजर्बेसे ही नाड़ी देखना आता है।" रोगी इन विवादों में नहीं पड़ता। उसे तो रोगसे छुट्टी पानेकी गरज होती है। जिस समय भारतमें चिकित्साकी केवल आयुर्वेदिक पद्धति ही थी, तो झख मार कर सभी रोगियोंको वैद्योंके पास जाना पड़ता, और

वैद्य महाराज जो कहते थे, उसे "सत्य वचन महाराज" कहनेके सिवा कोई चारा नहीं था। लाहौरके एक डाक्टरने इसी समय "त्रिदोषकी आधुनिक व्याख्या" प्रकाशित की थी, जिसे भी स्वामीने देखा था।

स्वामीने अपने ज्ञानको आयुर्वेद ही तक सीमित नहीं रक्खा था। वह शरीर-रचनाशास्त्र, शरीर-क्रियाशास्त्र आदिका भी अध्ययन किये हुए थे। डा० त्रिलोकीनाथ वर्मा—जिन्होंने शरीरशास्त्रपर हिन्दीमें पहली पुस्तक लिखी थी—उस समय लखनऊमें किंग जार्ज मेडिकल कालेजमें एनाटोमीके प्रोफेसर थे। स्वामी पुस्तकोंको देखकर सन्तुष्ट होनेवाले नहीं थे। वह एक महीने तक मेडिकल कालेज जाते और मुर्दोंको काट छेदन कर शरीरकी भीतरी स्थितिको जब दिखलाया जाता, तो उसे बहुत गौरसे देखते थे। सब कुछ देखनेके बाद वह त्रिदोषको आयुर्वेदसे निकाल देनेके पक्षपाती हो गये। अप्रेल १९३२ से 'आयुर्वेद विज्ञान' में उसके विरुद्ध उन्होंने लेख प्रकाशित करने शुरू किये, जिन्हें पीछे पुस्तकाकार प्रकाशित कर दिया। उसके साथ ही उन्होंने सूचना निकाली कि जो कोई इन आक्षेपोंका वैज्ञानिक ढंगसे पूरी तरह उत्तर देगा, उसे हम एक हजार रुपया पुरस्कार देंगे। निर्णय करनेके लिए उन्होंने चार विद्वानोंका नाम भी दे दिया था। पुस्तक पढ़ कर कई वैद्योंने लिखा, यह आयुर्वेदपर जबर्दस्त प्रहार है। कितने ही वैद्योंने अपने दिलका बुखार उसकी कड़ी आलोचना करके निकाला। पं० उपेन्द्रनाथ दास (कविराज काव्यसांख्यतीर्थ) ने 'त्रिदोषवादः' और 'पंचभूतवादः' दो पुस्तकें प्रकाशित कीं। जवाबमें पीलिभीतके ललितहरि आयुर्वेद कालेजके प्रिंसिपल पं० विश्वनाथ शास्त्रीने 'त्रिदोषालोक' प्रकाशित किया। हरिहर भानुशंकर तिवारीने 'त्रिदोषवादः' और इसी तरह एक और विद्वान्ने भी त्रिदोषवादके समर्थनमें पुस्तक लिखी। यह सवाल बम-विस्फोट तरह वैद्योंके सामने आया। वैद्य ही क्यों, हमारे दार्शनिक पण्डित भी तो सत्वरजतमके इसी आयुर्वेदिक बात-पित-कफको मानते हैं। सभीने पण्डित मदनमोहन मालवीयजीसे निवेदन किया, कि इसके निर्णयके लिए एक परिषद् बुलाई जाय। पं० मदनमोहन मालवीय प्राचीन भारतके नामपर कोई भी तकलीफ उठानेके लिए तैयार थे। उनके

द्वारा काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें १९२५ के २ से ८ नवम्बर तक परिषद् हुई। इसमें बड़े-बड़े वैद्य और दार्शनिक पण्डित जमा हुए थे। पक्ष-विपक्षमें निम्न विद्वान् सम्मिलित हुए थे :—

दार्शनिक पण्डित—पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पं० मधुसूदन झा, पं० शंकरतर्करत्न, पं० प्रमथनाथ तत्वभूषण, पं० राजेश्वर शास्त्री द्रविड़, न्याय-सांख्य-व्याकरणतीर्थ पं० रुद्रदत्त शर्मा, आचार्य ध्रुव, पं० देवनायकाचार्य विद्यावागीश, पं० भूषण तर्कवारिध हैं।

वैद्य विद्वान्—कविराज गणनाथ सेन, कप्तान श्रीनिवास मूर्ति, आचार्य यादवजी त्रीकमजी, राजवैद्य पं० लक्ष्मीराम स्वामी जयपुर, कविराज प्रतापसिंह, पं० दुर्गादत्त शास्त्री, पं० सत्यनारायण शास्त्री, पं० शिवदत्त शुक्ल, कविराज उपेन्द्रनाथदास, कविराज हरिरंजन मजूमदार, पं० मस्तराम शास्त्री, श्री गंगाधर शास्त्री गुणे, पं० ब्रजबिहारी चौबे, पं० किशोरीदत्त शास्त्री, पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल, पं० दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री, पं० धीरजराम निर्भयराम शास्त्री, पं० वामन शास्त्री दातार, पं० कृष्ण शास्त्री कवड़े बी० ए०, भिषगाचार्य त्रयम्बक शास्त्री आप्टे, पं० भीकाजी विनायक डेगवेकर (एल० एल० बी), पं० गोबर्धन शर्मा छाँगानी, तपस्वी बाबासाहब परांजपे।

त्रिदोषके विपक्षमें बोलनेवाले विद्वान् थे—प्रो० राणे, प्रो० रामदास गौड़, प्रो० दत्तात्रेय अनन्तकुलकर्णी, प्रो० जोशी, प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा, डा० घाणेकर, डा० बालकृष्ण अमरपाठक, स्वामी हरिशरणानन्द।

परिषद्के स्वागताध्यक्ष स्वयं मालवीयजी हुए थे, और हिन्दू विश्वविद्यालयके संस्कृत कालेजके प्रिंसपल श्री प्रमथनाथ तत्वभूषणकी अध्यक्षतामें पहले तीन दिन पंचमहाभूतपर विचार-विनिमय हुआ। उसके बाद तीन दिन महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेनकी अध्यक्षतामें त्रिदोष सम्भाषा परिषद् हुई। पंचभूतके सम्बन्धमें आधुनिक रसायन शास्त्रियोंने जो प्रश्न उठाये थे, वह प्रयोग सम्मत थे। प्रयोगसे कोरे दर्शनशास्त्री उसका क्या जवाब देते ? तर्क हवामें तीर मारना है, और प्रयोग सामने करके दिखलानेकी बात है। दार्शनिक और तार्किक अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति

आदि प्रमाणोंसे समझानेकी कोशिश करता है, और वैज्ञानिक उसे प्रत्यक्ष करके दिखलाता है। प्रत्यक्षके सामने अनुमान और दूसरे तर्कके घोड़ोंके दौड़ानेसे क्या बनता है? बौद्ध दार्शनिक होते, तो वह कह देते कि प्रमाण वस्तुतः प्रत्यक्ष ही है, दूसरा कोई प्रमाण नहीं है। अनुमानके साथ इसीलिए रियायत करनी पड़ती है, कि वह प्रत्यक्षका पल्ला पकड़ता है। लेकिन, यहाँ तो जितने दार्शनिक थे, सब परम आस्तिक, सनातनधर्मी थे। वह भला बौद्धोंकी उदारता कैसे दिखला सकते थे। निर्णायकोंने वाद-विवादके बाद यही निर्णय दिया था—

'पंचभूत सिद्धान्तके सम्बन्धमें प्राच्य और प्रतीच्य विज्ञानकी दृष्टिसे जो विचार-विनिमय हुआ, इससे हम लोग जिस निर्णयपर पहुँचे वह निम्न है :—

(क) आधुनिक वैज्ञानिकोंके पदार्थ वर्गीकरणका दृष्टिकोण एवं मुख्य लक्षण प्राचीन ऋषियोंके दृष्टिकोण एवं ध्येयसे अत्यन्त भिन्न है।

(ख) इस समय तक आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा किये ९२ मूल तत्वों एवं तन्मूल विद्युत कणोंके वर्गीकरणकी दृष्टिसे पंचभूत वर्गीकरणके सिद्धान्तका विचार करके परिषद् इस निश्चित मतपर पहुँची है, कि इन वर्गीकरणोंका परस्पर कोई मेल नहीं है।

इस प्रकार आयुर्वेदके सिद्धान्त आधुनिक विज्ञान-सम्मत नहीं है, यह बात तो साफ हो गई। आधुनिक विज्ञान पंचभूतोंको नहीं मानता, और इन विद्वानोंको यह भी पता नहीं था, कि उन्हींके देशके धुरन्धर बौद्ध विद्वानोंने भी पंचभूतोंमेंसे एक आकाशको माननेसे इन्कार कर दिया था।

तीन दिन त्रिदोष सम्भाषा परिषद् हुई। पहले दिन इसी विषयपर विवाद होता रहा, और कई पत्र-सम्वाददाता भी कार्यवाहीकी रिपोर्ट लेते रहे। अगले दिन (८ नवम्बर १९३५ के) 'आज' ने इसके बारे में लिखा था—'परिषद्के आजके विवादमें बड़ी छिछालेदर हुई। परिषद्की कार्यवाही देखकर कितने ही सत्यप्रेमियोंको बड़ी निराशा हुई और उन्होंने कहा—'नाम बड़े और दर्शन थोड़े।' त्रिदोषवादियोंने किसी आक्षेपका

उत्तर नहीं दे पाया। उनकी विचार-पद्धतिको केवल वही अनुगमन कर सकते थे।'

इन परिषदोंसे स्वामीको और भी उत्साह हुआ। वह इस ढोंगको ज्यादा दिन चलते नहीं देखना चाहते थे, कि आयुर्वेद अथर्ववेदका उपांग है। स्वयम्भू ब्रह्माने प्रजाको उत्पन्न करनेसे पहले एक लाख श्लोकों और एक हजार अध्यायोंकी ब्रह्मसंहिता बनाई। यह ब्रह्मा कौन था? कब हुआ? सृष्टिसे पूर्व जब मानव ही नहीं उत्पन्न हुआ था, तो रोग किसके शरीरपर लगा, जिसके कारण आयुर्वेदकी रचनाकी अवश्यकता पड़ी। वैद्य अपने आयुर्वेदके इतिहाससे भी कोरे होते हैं। ब्रह्मा, अश्विनीकुमार, इन्द्र आदिसे खामखाह आयुर्वेदका सम्बन्ध जोड़ते फिरते हैं।

१९४८ में स्वामीने 'त्रिदोष मीमांसा' का दूसरा संस्करण प्रकाशित किया, जिसमें ९६ पृष्ठका उपोद्घात लिखकर बतलाया, कि अथर्वाही ब्रह्मा था, जो सृष्टिकी रचनासे बहुत पीछे हुआ। वेदकी दिव्य चिकित्सासे आयुर्वेदका कोई सम्बन्ध नहीं है। वैद्योंको तो स्मृतिकार नीच पेशा करनेवाले मानते थे। अत्रिस्मृतिमें कहा गया—

'अविकाशूचित्रकाराश्च वैद्यो नक्षत्र पाठकः।
चतुर्विप्रा न पूज्यन्ते बृहस्पतिसमा यदि।'

(मूर्तिकार, चित्रकार, वैद्य और ज्योतिषी ब्राह्मण यदि बृहस्पतिके मान में हों, तब भी उनका यज्ञादिमें सत्कार नहीं करना चाहिये।)

मनु दादाने भी कहा है—

चिकित्सकान् देवलकान् मांसविक्रयिणस्तथा।
विपणेन च जीवन्तो वर्याः स्युर्हव्यकव्ययोः।

(चिकित्सक, पुजारी, मांसविक्रेता, दूकानदार इन्हें यज्ञ और श्राद्ध कर्ममें नहीं आने देना चाहिये।)

औशनस स्मृतिवाले तो वैद्योंको गाली देनेसे भी बाज नहीं आये—

नृपायां विप्रतश्चौर्यात् संजातोयो भिषक् स्मृतः।

(रानीमें ब्राह्मण द्वारा चोरीसे पैदा हुआ वैद्य कहा गया।) यह बात तो झूठी है, क्योंकि आजके हजारों वैद्य इस तरह नहीं पैदा हुए।

अध्याय ११

विज्ञानके प्रेमी (१९३१-४१ ई०)

वर्ष ४२-५२

१९३० में लाहौरमें कांग्रेसका महाधिवेशन हुआ। इसीमें कांग्रेसने ब्रिटिश साम्राज्यसे अलग होकर पूर्ण स्वराज्य प्राप्ति अपना ध्येय घोषित किया। ब्रिटिश साम्राज्यसे अलग होनेकी घोषणा करनेमें उस समयके कांग्रेसके सभापति पं० जवाहरलालका विशेष हाथ था, वही स्वराज्य मिलनेपर अंग्रेज रानीके साम्राज्यसे चिपके रहनेके सबसे जबर्दस्त पक्षपाती हैं। कितना अन्तर है। लाहौर कांग्रेसके बाद नमक सत्याग्रह शुरू हुआ और विलायती कपड़ेके बायकाटका भी जोर-शोरसे आन्दोलन होने लगा। अमृतसर देशके स्वतन्त्रता-संग्राममें बराबर आगे रहनेवाला था। जलियाँवाला बागकी कुर्बानी करके उसने इतिहासमें अपने लिए एक स्थायी स्थान बना लिया। उस समय सत्याग्रहकी असाधारण अवस्थामें कमेटियों द्वारा काम नहीं हो सकता था, इसलिए कांग्रेसके प्रोग्रामका संचालन डिक्टेटर किया करते थे। जब तक भारतमें अंग्रेज रहे, तब तक पंजाब बराबर अंग्रेजभक्तों द्वारा ही शासित होता रहा। लोग कह बैठते यह पंजाबी स्वभाव है। वह दो अतियोंमें जा सकता है, मध्यका रास्ता उसे पसन्द नहीं। चाहे वह अंग्रेजके जूते चाटेगा या बगावतका झंडा उठा कर मरने-मारनेके लिए तैयार हो जायगा। कांग्रेस एक तरहकी क्रांति लाना चाहती थी। पंजाबमें ही कीर्ति किसान पार्टी गुप्त रह कर मजूर-किसान क्रांतिका स्वप्न देख रही थी। स्वामी साम्यवाद (कम्युनिज़्म) के रास्तेको ही ठीक मानते थे, लेकिन उस वक्त तो काम करनेका खुला

रास्ता कांग्रेस द्वारा ही था, इसलिए वह उसीके काममें लगे हुये थे। वह पहले हीसे अमृतसर कांग्रेस कमेटीकी कार्यकारिणीके मेम्बर थे। अब 'समरभूमि या दुर्लभ प्राणी' मानकर अपनी फार्मेसीके लिए वह पीठ नहीं दिखा सकते थे।

१९ फर्वरी १९३१ को सरकारने कांग्रेस वर्किंग कमेटीके सभी सदस्योंको अमृतसरमें गिरिफ्तार कर लिया। स्वामीजी भी उनमें थे। उनके मुकद्दमेका फैसला नहीं हुआ था, इसी बीच गांधी-इर्विन-समझौतेके अनुसार १५ दिन जेलमें रहकर ४ मार्च १९३१ को वह जेलसे छोड़ दिये गये। १५ दिनके लिए ही जेलकी रोटियाँ बदी थीं। लेकिन, समझौतेको अंग्रेजोंने माननेके लिए नहीं स्वीकार किया था। शर्तें तोड़ीं, और सत्याग्रह फिर छिड़ गया। अमृतसर पंजाब ही नहीं, कश्मीर, अफगानिस्तान और पूर्वी मध्य-एसिया तकके कपड़ेके व्यापारकी बड़ी मण्डी है। विलायती कपड़ा वहाँसे बहुत जाता था। कपड़ेकी दूकानोंपर जबर्दस्त पिकेटिंग शुरू हुई। व्यापारी हर देश और युगमें पैसा कमानेके लिए कोई भी कुकर्म करनेके लिए तैयार होता है। फिर जब सरकार उनकी पीठपर हो, तो वह और क्यों किसीकी बात मानने लगे? यहाँके थोकके व्यापारी करोड़पति थे। विलायती कपड़ेकी मिलें बायकाटसे परेशान होकर मुँहमाँगा कमीशन दे रही थीं। फिर ये सेठ बहती गंगामें हाथ धोनेसे क्यों बाज आते? पिकेटिंग हो रही थी, सरकार धड़ाधड़ गिरफ्तारियाँ कर रही थी। लेकिन जगह खाली नहीं होने पाती थी। एकके गिरिफ्तार होते ही दूसरे उसकी जगह आ खड़े होते थे। व्यापारियोंने कांग्रेसके प्रतिज्ञा-पत्रपर हस्ताक्षर कर दिया, कि हम विलायती कपड़ा नहीं बेचेंगे। लेकिन, अवसर मिलते ही प्रतिज्ञा तोड़े बिना नहीं रहते थे। जिन व्यापारियोंने प्रतिज्ञा-पत्रपर हस्ताक्षर नहीं किया था, उनकी दूकानों और घरोंपर धरना चल रहा था। कांग्रेस कमेटीकी कार्यकारिणीके सभी सदस्य गिरिफ्तार हो गये थे। अब स्वामी कितने दिनों तक बाहर रहते। एक व्यापारीकी दूकानपर पिकेटिंग करते डेढ़ सौ स्वयंसेवक गिरिफ्तार हो चुके थे। स्वयंसेवकोंकी कमी पड़ गई। स्वामी संचालक थे। उनके पास अगले दिनके लिए केवल नौ

आदमी थे। स्वामीने उस दिन स्वयंसेवकोंके गलेमें ढोल डाल माला पहना, पीछे चार और स्वयंसेवकोंको मारू राग बजाते धरना देनेके लिए भेजा। ढोलकी आवाज सुनकर काफी लोग पीछे-पीछे हो लिये। नारा लगा रहे थे 'धरना नहीं छोड़ेंगे।' उनके गिरिफ्तार होते ही लोगोंमेंसे अपने आप स्वयंसेवक बन कर आगे आने लगे। गिरिफ्तारी करनेवालों और आगे आनेवालोंमें होड़ लग गई थी। दो दिन-दो रात उस मकानपर इतनी जबर्दस्त पिकेटिंग हुई, कि व्यापारीके परिवारके लोगोंको घरसे बाहर निकलना भी कठिन हो गया। सेठने देखा, एक ओर तो भारी बद-नामी हो रही है, और दूसरी ओर गिरिफ्तारी और सरकारी डण्डेसे कांग्रेसकी शक्ति दब नहीं रही है। अन्तमें उसने माफी माँगी, नाक रगड़ी और डेढ हजार रुपया जुर्माना देकर जान छुड़ाई।

इस सफलताके बाद दूसरे दिन एक दूसरे व्यापारीके घरपर पहुँचे। वहाँ भी जनताके लोग तमाशेमें शामिल हो अपनेको गिरफ्तार कराने लगे। स्वामीको विश्वास हो गया, जनताकी शक्ति अजेय है, उसका भण्डार अखण्ड है। सचमुच ही उसके ऊपर रक्तबीजकी कहानी चरितार्थ होती है। इस सेठके यहाँ भी जब शाम तक डेढ सौ आदमी गिरिफ्तार हो गये, तो उसे अकल आई, और रातको स्वामीके पास जाकर प्रतिज्ञा-पत्रपर दस्तखत कर मुँहमाँगा जुर्माना दे पिण्ड छुड़ाया।

जबर्दस्त पिकेटिंग हो रही थी। पुलिस परेशान थी। वह पता लगानेमें लगी हुई थी, कि कौन आदमी इसका संचालन कर रहा है। आखिर पीछे रहनेपर भी शहरके लोग तो जानते ही थे, कि स्वामी हरिशरणा-नन्द संचालन कर रहे हैं। पुलिसने उन्हें गिरिफ्तार कर लिया।

जेलमें—अदालतमें मुकद्मा चला। गवाही-साखी तो नकली भी पुलिस बना सकती थी। पंजाब जैसी अधम पुलिस तो हिन्दुस्तानमें कहीं भी नहीं थी। स्वामी तो परिणामको जानते ही थे। उन्हें दो साल-के कड़े कारावासकी सजा मिली। पहले एक महीना लाहौर जेलमें बिताया, फिर मुल्तानकी पुरानी सेंट्रल जेलमें भेज दिये गये, जहाँ उनके

अपने पुराने कांग्रेसी पहलेसे पहुँचे हुए थे। जेलमें उन्होंने जेलका वस्त्र पहना। यह बिना रंगे वस्त्र थे। राजनीतिक कैदियोंकी संख्या बहुत अधिक थी, इसलिए श्रेणी-विभाजनमें भी बहुतोंको उच्चश्रेणी देनी पड़ती थी। सरकारने सब धान बाईस पसेरी कर दिया था। स्वामीको यह पसन्द था—क्यों ऊँचे बनकर अपने साधारण बन्धुओंसे अलग रक्खे जायँ। पंजाबकी सरकार तीन लोकसे न्यारी थी। वह अंग्रेजोंके हाथकी बिल्कुल कठपुतली थी, और देशभक्तोंपर गजब ढानेके लिए उसके चाकर चार कदम आगे रहते थे। और प्रदेशोंके जेलोंमें राजनीतिक बन्दियोंके खाने-पीनेमें सुधार हुआ था। पर, यहाँ साग-सब्जीके नामपर वही घास-पात, खराब आटेकी जली-सड़ी रोटियाँ, मिलती थीं जिनमें आधी रेत होती। स्वामी ऐसे खानेके आदी नहीं थे। योगाभ्यासके समय भोजनके छूट जानेके बाद जब वह फिरसे पहली अवस्थामें पहुँचे, तब भी गेहूँका आटा उन्हें पचता नहीं था; इसीलिए वह अधिकतर चावल, सब्जी, माँस और अंडे खाया करते थे। जेलमें दस-बारह दिन जेलकी इस तरहकी रोटियाँ खाई, तो उनका पेट खराब हो गया। कभी दस्त होती, कभी पेटदर्द। जेलमें चाहे कोई बीमारी हो, अस्पतालमें एक ही दवा थी कुनैन। स्वामीको भी वही दी गई। उन्होंने कहा, मुझे बुखार नहीं है, पेटदर्द है, उसकी दवा दो। जेलवाले कैदीके उजुरको बदाश्त कैसे कर सकते थे? यह तो आज्ञा-भंग था। डाक्टरने कहा—हम जो दवा देंगे, वही तुम्हें पीना पड़ेगा। हम डाक्टर हैं, तुम नहीं। कैदीको बोलनेका कोई हक नहीं। स्वामी यदि स्वयं चिकित्सक न होते, तो शायद चुप भी हो जाते। उन्होंने कहा—'हम कुनैन नहीं पीयेंगे। कुनैनसे बहुत खुश्की पैदा होती है, और कानोंसे सुनाई नहीं देता। हम यहाँ जेल काटने के लिए आये हैं, बहरे होकर जानेके लिए नहीं। क्या आप लिखकर दे सकते हैं, कुनैन पीनेसे हमारे कानोंको कोई नुकसान नहीं होगा।' यह गुस्ताखी, जेलके डाक्टरका अपमान था। उसने रिपोर्ट कर दी, कि इस कैदीने जेलके नियमोंको तोड़ा है। जेलर (दरोगा) वार्डरोंकी पलटन लेकर कुनैन पिलानेके लिए पहुँच गये। जेलमें दो सौसे ऊपर कांग्रेसी

कैदी थे, जिनके रहनेके लिए छोलदारियाँ लगी थीं, और हरेक छोलदारी-में चार-चारके बिस्तरे थे।

जेलका सुपरिंटेन्डेंट एक काबुली पठान डाक्टर था। वह बड़ा भला आदमी था। जेलरने बहुत दबाया और चाहा कि जबर्दस्ती कुनैन पिलाई जाय, लेकिन स्वामी नहीं माना, और इस जबर्दस्तीके खिलाफ भूख-हड़ताल कर दी। बहुत ठहराया गया—जेलमें भूख-हड़ताल करना भारी अपराध है। मित्रोंने भी समझाया, कि मुकद्मा चलाकर सजा दे देंगे, और जेलमें और अधिक रहना पड़ेगा, इसलिए कुनैन पी लो। स्वामीको पूरा विश्वास था, कि कुनैन पेटदर्दकी दवा नहीं है। उसे पीकर वह अपना स्वास्थ्य खराब करनेके लिए तैयार नहीं थे। छठे दिन सुपरिंटेन्डेंट जाँचके लिए आया। स्वामी का मामला उसके सामने रक्खा गया। पूछनेपर पर स्वामीने कहा—'मैं स्वयं चिकित्सक हूँ। जानता हूँ, कि कुनैन पेटकी दवा नहीं है, यह मलेरियाकी दवा है। मेरे कान पहले हीसे कुछ खराब हैं, कुनैन पीनेसे और नुकसान होगा। मैंने डाक्टरसे कहा, कि तुम लिख कर गारंटी दो, कि इससे कान खराब नहीं होगा, तो मैं पी लूँ। वह इसके लिए तैयार नहीं हैं। मुझे जबर्दस्ती कुनैन पिलाया जाने लगा, इसीलिए मैंने भूख-हड़ताल की। मैं जेलके किसी नियमोंको तोड़ना नहीं चाहता, लेकिन आपके डाक्टर स्वयं मुझे ऐसा करनेके लिए मजबूर कर कर रहे हैं। आप स्वयं अच्छे डाक्टर, और जेलके बड़े अफसर हैं, आपही इसको अच्छी तरह देखिए।' सुपरिन्टेन्डेंटने बातको अच्छी तरह सुना, और टिकट पर अस्पतालले जानेका हुकुम दे गया।

वार्डरोंने उनका विस्तार समेटा और स्ट्रेचरपर उठाकर अस्पताल ले गये। वहाँ भी स्वामीने भूख-हड़ताल जारी रक्खा। सातवें दिन फिर सुपरि-न्टेन्डेंट देखनेके लिए आया। टिकट पर देखा, कि कैदी खुराक लेनेसे इन्कार कर रहा है। वजन करवानेपर मालूम हुआ, कि वह नौ पौण्ड कम है। उसने कहा—"यदि तुम भोजन नहीं लोगे, तो जेलके कानूनके

ताड़नेके विरुद्धमें सख्त सजा मिलेगी।" स्वामीने कहा—जीता रहूँगा तब ना?

—नहीं, नहीं, तुम्हें खाना जरूर लेना चाहिये।

—मैं खाना खानेसे इन्कार नहीं करता, लेकिन कुनैन नहीं पिऊँगा। यदि आप मुझे अपनी दवा लेनेकी इजाजत दे दें तो मैं अभी खाना शुरू कर दूँगा। साथ ही मुझे आगे ऐसा भोजन मिले, जिसे मैं हजम कर सकूँ।

सुपरिन्टेन्डेण्टने कहा—खुराक तो वही मिलेगी, जो कैदियोंको मिला करती है।

—मैं वही खुराक खाना चाहता हूँ, लेकिन वह खाने लायक तो हो।

सुपरिन्टेन्डेंटने टिकटपर अपनी दवा लेनेकी इजाजत दे दी और जब तक वजन पूरा न हो जाय, दो अण्डे, एक सेर दूध, एक छटाँक चीनी, चावल आदि अस्पतालकी खुराक देनेके लिए लिख दिया। स्वामी दो मास तक अस्पतालमें मजेमें रहे। उनका वजन असली वजनसे भी चार पौंड अधिक बढ़ कर ११५ पौंड हो गया। तब अस्पतालसे उन्हें हटा दिया गया। कैम्पमें आनेके समय सुपरिन्टेन्डेंटसे उन्होंने लिखने-पढ़नेकी इजाजत माँगी और उसने इजाजत दे दी। पठान डाक्टरपर स्वामीकी बातों और व्यवहारका प्रभाव पड़ा था।

स्वामीने वैज्ञानिक और पुरातत्व सम्बन्धी पुस्तकें मँगाई। कज्जल (कार्बनिक) रसायन और अकज्जल रसायनके ग्रन्थोंको मँगाकर खूब पढ़ा। इसके बाद उन्होंने सृष्टि-रचनापर फुल्स्केप साइजके १२०० पृष्ठोंकी पुस्तक लिख डाली। इस पुस्तकमें उन्होंने दर्शन ग्रन्थोंकी सृष्टि विषयकी बातोंकी आलोचना की। जैसा ईश्वर उसमें बतलाया जाता है, उसका सबूत विज्ञानसे नहीं मिलता है तो विज्ञानका ही एक तत्व हो सकता है। पुस्तक न उन्होंने प्रकाशित की और न किसी प्रकाशकको दी। वह अपने कलेवरके भीतर ही जीर्ण-शीर्ण हो गई। चाहे औरोंके लिए जेल चिन्ता और दुःखका घर भर ही हो, पर स्वामी

तो वहाँ अपने-लिखनेमें मजेसे लगे रहे। छः महीने तक उन्हें आधा सेर दूध मिलता रहा। एक वक्त चावल तो पौने दो वर्ष तक दिया जाता था। नेक चलनेके कारण सजाकी मियादसे तीन महीने कम कर दिये गये और पौने दो वर्षमें ही वह जेलसे छूट गये। ४ जनवरी १९३३ को महात्माजी गिरफ्तार हुए थे। उससे चार महीने पहले स्वामीकी जेलसे रिहाई हुई थी। जेलसे ही वह 'आयुर्वेद विज्ञान' का सम्पादन करते रहे।

जेलसे निकलनेपर अब उन्होंने सिर्फ पगड़ी भगवाकी रक्खी, बाकी कपड़े बदल दिये।

फार्मेसीकी स्थिति—जेल जाते समय फार्मेसीमें १५-१६ हजारकी चीजें थीं, चार-पाँच नौकर थे। मनेजरको तजर्बेकी कमी थी या क्या, वह कामको सँभाल नहीं सके। अनुभव नहीं था, इसलिए कूपीपक्वरस, भस्म आदिको तैयार नहीं कर सके। तैयार दवाइयाँ बेचते रहे, जिनमें कितनी ही समाप्त हो गईं। फार्मेसीके ग्राहक तो वैद्य थे। उनके पास जैसे रोगी आते थे, वैसे ही दवाइयाँ मँगवाते थे। फार्मेसी पन्सारीकी दूकान थी; यदि ग्राहककी माँग पूरी न की जाय और जो औषधि माँगे, उसे न दिया जाय तो हाथसे ग्राहक चला जाता है। दवाइयोंकी कमीके कारण ग्राहक घटने लगे। दवाइयोंके बिक जानेसे आल्मारियाँ और गुदाम खाली हो रहे थे। इसी बिक्रीसे मनेजर साहब खर्चा चला रहे थे। आकर देखा तो मालूम हुआ कि दूकानकी मालियत घटकर आधी रह गई है। स्वामीने मनेजरको हटाया और एक नये मनेजर श्री दिलीपचन्द्र आयुर्वेदालंकारको रक्खा। दिलीपचन्द्र बड़े ही ईमानदार और मेहनती युवक थे। उन्होंने दूकानको अच्छी तरह सँभाला। स्वामी दवाइयाँ बनानेमें जुट गये। उस समय गुरुद्वाराके अकाल तख्तकी जायदादके पास एक बाग था, जिसे अकालियोंका बाग कहा जाता था। वहाँ दूकानें, गोदाम, कारखाना आदिकी इमारतें बना कर दी जा रही थीं। किराया भी बहुत कम था। अभी तक जो दूकान उनके पास थी, उसके लिए ८० रुपया मासिक किराया देना पड़ता था। अकाली मार्केटमें १५-१५ रुपयेपर एक दूकान और कारखानेके लिए बड़ा स्थान मिल

गया। रहनेके लिए भी बहुत अच्छा स्थान बना-बनाया मिला। स्वामी वहाँ चले आये। आज भी उनकी दूकान और कारखाना उसी अकाली मार्केटमें है।

औषधि-निर्माणमें मशीन—स्वामी प्रत्यक्ष और प्रयोगपर विश्वास रखनेवाले हैं। उन्होंने जब दवाइयोंका विश्लेषण करके देखा कि चाहे लकड़ीकी आँचसे उन्हें तैयार करो या पत्थरके कोयलेसे, गुणमें अन्तर नहीं आता तो पत्थरके कोयलेका व्यवहार करना शुरू कर दिया। अब उन्हें मशीनोंने अपनी तरफ खींचा। महात्मा गांधी—देशके सबसे बड़े नेता—मशीनोंके विरोधी थे और उसे अनेक खुराफातोंकी जड़ मानते थे। उनके कारण कितने ही गांधीभक्त मिलकी चीनी छोड़ कर गुड़ इस्तेमाल करने लगे, हाथके कते-बुने कपड़ेकी तो बात ही अलग। स्वामी साइन्सके भक्त थे, इसलिए मशीनोंके बारेमें उनका रुख गांधीवादी कैसे हो सकता था? वह देख रहे थे, आजके युगमें कोई भी देश दो हजार वर्ष पुराने चर्खे, बढ़ई, लोहारके भरोसे होड़में टिक नहीं सकता और न बढ़ सकता है। इस युगमें मुकाबला मशीनों द्वारा ही किया जा सकता है। खद्दरका यह उपभोग जरूर था, कि विदेशी कपड़ेके बायकाट करनेपर उसकी कमीको पूरा करनेमें वह सहायक हो सकता था। लेकिन उसे सदाके लिए देशकी नीति नहीं बनाया जा सकता। वह देखते थे, हमारी सामग्रीसे बनी कितनी ही दवाइयाँ विलायतसे आती हैं और वह बड़ी स्वच्छ और गुणवर्द्धक होती थीं। मशीनोंसे दवाइयोंके तैयार करनेपर उनपर आदमीको श्रम भी कम पड़ता। आयुर्वेदिक दवाइयोंकी घुटाई, पिसाई बहुत करनी पड़ती थी, जिसमें बहुत आदमी लगते थे। आदमीके सिरपर सवार रहें, तब तो काम करते थे, नहीं तो बेगार टालने लगते। जब सालमें पचासों हजारकी दवाइयाँ तैयार करनी थीं, तो जितने आदमी काममें लगाये गये, उन सबके सिरपर सवार रहना भी मुश्किल था। उन्होंने सोचा, मशीनोंका यदि इस्तेमाल करें तो घुटाई-पिसाई पूरी हो सकती है, दवाइयाँ देखने-सुननेमें भी अच्छी मालूम होंगी और सस्ती भी पड़ेंगी।

लेकिन वैद्य तो रूढ़िवादी होते हैं। वह पत्थरके कोयलेकी आँच भी बर्दाश्त करनेके लिए तैयार नहीं थे। मशीनोंके बारेमें तो वह पूरे गांधीवादी थे। कहते थे—कुटाई-पिसाई मशीनोंसे करनेपर गर्मी अधिक पैदा हो जाती है, जिसके कारण औषधिके कितने ही गुणदायक अंश नष्ट हो जाते हैं। पर स्वामी दवाई कूटने-पिसनेमें आग लगते नहीं देखते थे। फिर विलायती दवाएँ तो सभी मशीनोंसे ही तैयार होकर आती हैं। उनका गुण क्यों नहीं नष्ट हो जाता? वैद्योंकी दलीलें उन्हें थोथी मालूम हुईं और वह इस धुनमें लगे कि हरेक कुटाई-पिसाईकी मशीनको तैयार करके उसका इस्तेमाल करें। वह इसके लिए बम्बई गये। वहाँ झण्डूके कारखानेको देखा। झण्डूकी फार्मेसीमें सारी मशीनें विलायती थीं। धूतपापेश्वरमें गोली दवाइयोंके घोटनेकी मशीनें स्वदेशी थीं। उन्हें देख कर स्वामी इस निश्चयपर पहुँचे कि कुटाई-घुटाईकी मशीनें हम अमृतसरमें बनवा सकते हैं। बम्बईसे वह टिकियों और गोली बनानेकी मशीनें खरीदकर लाये थे, बाकी मशीनोंकी रूपरेखा अपने दिमागमें बैठा कर आये। अमृतसरमें अच्छे मिस्त्रियोंकी कमी नहीं थी। उन्हें कह कर छः महीनेमें ही स्वामीने मशीनसे चलनेवाले घोटनेके खरल और कूटनेके इमामदस्ते बनवा लिये। उनसे कुटाई-घुटाईका काम उससे भी अच्छा होने लगा, जितना कि हाथोंसे होता। १९३४ में दवाइयाँ मशीनोंसे बनने लगीं। इसके कारण श्रमकी बहुत बचत हुई। हाथसे बनानेमें जो दवाई एक रुपये सेरमें बनती थी, वह मशीनसे ८ आना सेरसे भी कम पड़ती थी। स्वामीने अपनी मशीनोंके फोटोके ब्लाक बनवा कर सूचीपत्रमें छपाये और मशीनोंसे दवाएँ बनती दिखाईं। विरोधियोंको फिर उनके विरुद्ध प्रचार करनेका अवसर मिला—"पंजाब आयुर्वेदिक फार्मेसीमें दवाइयाँ मशीनोंसे बनती हैं। इसके कारण उनके गुण नष्ट हो जाते हैं और उनसे कोई लाभ नहीं होता। इसीलिए उनका कारबार बन्द हो रहा है।" इसमें शक नहीं कि इस प्रचारका प्रभाव आरम्भमें कुछ पड़ा। कुछ वैद्य उनके एजेन्टोंके फेरमें आ गये, पर स्वामी घबरानेवाले जीव नहीं थे। उन्होंने अपने ग्राहक वैद्योंको लिख भेजा कि मशीनोंकी बनी हमारी

दवाइयाँ यदि निर्गुण सिद्ध हों, तो हम उनका दाम वापस देनेके लिए तैयार हैं। तीन-चार वर्षके संघर्षके बाद स्वामी अबके भी विजयी साबित हुए। अपने ही यहाँ उन्होंने मशीनें नहीं लगवाईं, बल्कि गुरुकुल कांगड़ी, सुखसंचारक कम्पनी, मथुराके दवाईके कारखानोंको मशीनें बेचीं और वहाँ अपने आदमी भेज कर उन्हें चालू कराया, जो आज भी अच्छी तरह काम कर रही हैं। मशीनोंकी प्रतिस्पर्धामें मशीनें ही ठहर सकती हैं, हाथ नहीं ठहर सकते, यह विश्वास स्वामीके लिए आसान था, क्योंकि १९१५ से ही वह "विज्ञानके" अध्येयता और भक्त बन गये थे। स्वामीजी पहले आदमी थे, जिन्होंने अमृतसरमें आयुर्वेदिक फार्मेसी स्थापित की थी। देखादेखी दूसरोंने भी फार्मेसियाँ खोलीं और होड़ लगाना चाहा, पर स्वामीके कारबारको आँच नहीं लगी।

विज्ञान-परिषद् की सहायता—जेलसे लौटकर स्वामी अपने फार्मेसीके काममें जुटे हुए थे। आमदनी भी खूब बढ़ी थी। थोड़ा-थोड़ा करके सात बीघा जमीन हाथ आ गई। रहनेके लिए एक बहुत बड़ा मकान खरीद लिया। १९३८ तक अब वह लखपतिसे बढ़ गये थे, उनका लखपति बननेका संकल्प पूरा हो गया। वह कमाईके पीछे पागल होने-वाले आदमी नहीं थे, वह चाहते थे, आयुर्वेद-सम्बन्धी अनुसन्धानका काम किया जाय। उसके लिए एक बड़ी प्रयोगशालाकी आवश्यकता पड़ेगी। स्वामीका सम्बन्ध बहुत समयसे प्रयागकी विज्ञान-परिषद्से था। परिषद्के संचालक और संरक्षक युनिवर्सिटीके बड़े-बड़े प्रोफेसर थे। स्वामीने समझा, आयुर्वेद भी तो प्रयोगपर विश्वास रखता है, और प्रयोग द्वारा ही उसको आगे बढ़ाया जा सकता है। यह पहले ही बतला चुके हैं, कि विज्ञान-परिषद्की पुस्तकों और पत्रिकासे जितना लाभ स्वामीने उठाया, उतना शायद ही किसीने उठाया हो। नवम्बर १९३३ में विज्ञान-परिषद् वार्षिक अधिवेशनमें स्वामी भी प्रयाग पहुँचे थे। विश्व विद्या-लयके फिजिक्स लेक्चर हालमें अधिवेशन हो रहा था। परिषद्के प्रधान-मन्त्री प्रो० शालिग्राम भार्गवने रिपोर्ट पढ़ी, जिसके कुछ अंश थे—

"चार-पाँच वर्षोंसे इस वार्षिक अधिवेशनके अवसरपर हम बराबर

कहते चले आये हैं, कि यह रिपोर्ट परिषद्के कार्यकर्त्ताओंका कार्य-वृतान्त नहीं, बल्कि उसके सेवकोंकी कठिनाईकी कहानी है, जो आपको सुनाई जाती है। वह कठिनाइयाँ दिनोंदिन बराबर बढ़ती ही जा रही हैं, यहाँ तक की हमारी समझमें ये कठिनाइयाँ अब इतनी बढ़ गई हैं, कि पुराने कर्मचारियोंकी जगह अब नए कर्मचारी चुने जाएँ, जो नई रीतियोंसे काम करके परिषद्के उद्देश्योंकी पूर्तिमें सफलता प्राप्त कराएँ, तभी परिषद्का कल्याण सम्भव है। नहीं तो यदि ऐसी ही शिथिलता रही, तो दो-चार वर्षमें परिषद्को बन्द ही कर देना पड़ेगा। धनाभावके कारण पुस्तकोंका छपाना बन्द होता जाता है, और "विज्ञान" का आकार भी घटा दिया गया है। पिछले सालके पहले महीनेभर तो विज्ञानका सम्पादन डा० सत्यप्रकाश जी करते रहे, परन्तु किसी कारण उनको सम्पादनका काम छोड़ना पड़ा। कौंसिलने उचित समझा, कि वह काम श्री रामदास गौड़के सपुर्द किया जाय। गौड़जी विज्ञान-परिषद्के स्थापित करनेवालोंमेंसे हैं, इसीलिए समय न होते हुए भी उन्होंने सम्पादनका भार लेना स्वीकार कर लिया, और चार-पाँच महीनेसे यह काम कर रहे हैं। गवर्नमेन्टसे हमको छ सौ रुपयेकी सहायता बराबर मिलती चली आती है, इसके बिना परिषद्का काम चलना असम्भव था। परिषद्की सदस्य संख्या, और 'विज्ञान' की ग्राहक-संख्या बहुत कम है।"

स्वामीजीने परिषद्की शोचनीय स्थितिको देखा, कार्यकर्त्ताओंसे बातचीत की। उन्हें मालूम हो गया, कि यदि इस समय परिषद्की सहायता नहीं की गई, तो उसका काम ठप हो जायेगा। 'विज्ञान' और विज्ञान-परिषद्का वह अपनेको बहुत ऋणी मानते थे। उसे अकालमें ही कालकवलित देखना कैसे पसन्द करते। अमृतसर आकर उन्होंने प्रो० रामदास गौड़ और प्रो० शालिग्राम भार्गवसे लिखा-पढ़ी की, साथ ही १२ मार्च १९३४ को १५० रुपया भेज कर परिषद्के आजीवन सदस्य बन गये। अप्रैल १९३४ में उन्होंने "आयुर्वेद विज्ञान" बन्द कर दिया, और परिषद्के सामने प्रस्ताव रक्खा, कि मैं पंजाब आयुर्वेदिक फार्मेसीको विज्ञान-परिषद्के हवाले करनेके लिए तैयार हूँ। इसकी आमदनीसे वह

अपना काम चलावें। मुझे केवल आयुर्वेदिक अनुसन्धानका शौक है, जिसके लिए मुझे सुविधा मिले। फार्मेसी ले लेनेपर "आयुर्वेद विज्ञान" को भी "विज्ञान" में सम्मिलित कर लेना होगा, क्योंकि ऐसा न करनेपर फार्मेसीकी दवाइयोंके प्रचारका काम नहीं हो सकेगा। परिषद्ने विशेष अधिवेशन करके निश्चय किया, कि एक वर्ष तक स्वामीजी ही फार्मेसीको चलावें। इस बीचमें हम किसी आदमीका प्रबन्ध कर लेंगे। "आयुर्वेद विज्ञान" को "विज्ञान" में मिलानेका भी निश्चय किया गया। जुलाई १९३४ से "आयुर्वेद विज्ञान" अब "विज्ञान" में विलीन होकर प्रकाशित होने लगा। उस अंकके मुखपृष्ठपर प्रो० रामदास गौड़ने स्वामीजीके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए लिखा था—

"विज्ञान सम्पादक मण्डलकी ओरसे हम अमृतसरके 'दी पंजाब आयुर्वेदिक फार्मेसी' के सुयोग्य स्वामी तथा "आयुर्वेद विज्ञान" के यशस्वी सम्पादक देशभक्त श्रीमान् स्वामी हरिशरणानन्दजी वैद्यका विशेष सम्पादकके रूपसे और उनके संचालित आयुर्वेद विज्ञान पत्रका विज्ञानके अंग रूपमें सादर स्वागत करते हैं और आशा करते हैं, कि आधार आधेयका यह सहयोग और सम्मिलन कल्याणकारी होगा और 'विज्ञान' में नया जीवन और नई स्फूर्ति लानेके लिए रसायनका काम करेगा। मंगलमय भगवान् विश्वनाथ दोनोंका उत्तरोत्तर कल्याण और वृद्धि करें। शुभमस्तु।"

"अबसे विज्ञानमें प्रकाशित होनेके लिए प्राच्य और पाश्चात्य सभी तरहके चिकित्सा शास्त्र-सम्बन्धी लेख हमारे कृपालु लेखक इस विषयके विशेष सम्पादक श्री स्वामी हरिशरणानन्द वैद्य दि पंजाब आयुर्वेदिक फार्मेसी मजीठमण्डी, अमृतसरको भेजें। रामदास गौड़।"

इसी जुलाई १९३४ के अंकमें 'विज्ञान' और "आयुर्वेद विज्ञान का सम्बन्ध" शीर्षकके नीचे स्वामीजीने निम्न वक्तव्य प्रकाशित किया—

"पाठकोंको ज्ञात है, कि "आयुर्वेद विज्ञान" आजसे कई माससे बन्द था, इसका कारण त्रैमासिक सूचीके आरम्भमें अन्तिम निश्चय शीर्षकमें दे चुका हूँ। मैं पंजाब आयुर्वेदिक फार्मेसी नामक अपने बृहद् कार्यालयको

विज्ञान परिषद् नामक संस्थाको समर्पण करनेका निश्चय कर चुका हूँ। विज्ञान परिषद् इस देशकी एक माननीय वैज्ञानिक संस्था है। इसका कार्यालय प्रयागमें है। उसका अपना 'विज्ञान' पत्र आज बीस वर्षसे निरन्तर निकल रहा है। इसने जितना वैज्ञानिक साहित्य दिया है, हिन्दी भाषाके साहित्यकी पूर्ति की है, वह चिरस्मरणीय रहेगी। इसने चिकित्सा विषयको लेकर आयुर्वेदकी काफी सेवा की है। यद्यपि आयुर्वेद शास्त्र अत्यन्त प्राचीन शास्त्र है, इसका बहुत-सा विषय आरम्भसे क्रियात्मक रहा है तथा आज भी है, तथापि इसमें अनेक ऐसी बातें भी सम्मिलित हैं, जिनको आज तक क्रियात्मक रूप नहीं दिया जा सका। पर दकियानूसी वैद्य 'बाबा वाक्यं प्रमाणं' को आँख मीच कर मान रहे हैं। किन्तु आधुनिक विचारके वैद्य इस पक्षके नहीं हैं, वे चाहते हैं, कि आयुर्वेद-सम्बन्धी प्रत्येक विषय पूर्ण क्रियात्मक बनाया जाय और उसे अच्छी तरह विज्ञानकी कसौटीपर कस कर दिखा दिया जाय। मैं भी इसी विचारका व्यक्ति हूँ। 'आयुर्वेद विज्ञान' का जन्म इसी उद्देश्यको लेकर हुआ था, जिसे वह बहुत कुछ पूर्ण करता रहा। परन्तु मेरे स्वराज्य संग्राममें फँसे रहनेके कारण "आयुर्वेद विज्ञान" का प्रकाशन ठीक तौरपर न हो सका, न भविष्यमें स्वतन्त्र दृढ़ रूपसे प्रकाशित होनेकी आशा दिखाई दी। इसी कारण इसको विज्ञान परिषद्की कौंसिलने सहर्ष स्वीकार किया। उसे विज्ञानके कलेवरमें मिला लेनेकी स्वीकृति दे दी। इसलिए ये अब आगेसे 'आयुर्वेद विज्ञान' 'विज्ञान' का अंग होकर उसके साथ प्रकाशित होता रहेगा। मुझे अब पूर्ण आशा है, कि जिस उद्देश्यको लेकर 'आयुर्वेद विज्ञान' प्रकाशित किया गया था, 'विज्ञान' के विद्वान् लेखक तथा अन्य वैद्य उक्त उद्देश्यकी पूर्तिमें पूर्ण सहायता देंगे और आयुर्वेद शास्त्र आधुनिक विज्ञानमें पूर्ण रूपसे मिल जायगा, इससे उन्नतिका मार्ग प्रशस्त हो जायगा।

"अबसे स्वामीजी विज्ञानमें चिकित्सा-विषयके विशेष-सम्पादकके रूपमें काम करते रहे।

२० अक्तूबर १९३७ को विज्ञान परिषद्का वार्षिक अधिवेशन हुआ,

जिसमें प्रधानमन्त्री डा० गोरखप्रसादने विवरण पढ़ते हुए कहा—
"परिषद् सरकारकी बड़ी ऋणी है। सरकारसे हमको प्रतिवर्ष छ सौ रुपये मिलते हैं। हम स्वामी हरिशरणानन्दजी के प्रति भी बहुत कृतज्ञ हैं, जिनसे हमें प्रतिवर्ष कई सौ रुपये मिल जाते हैं। इस वर्ष उनसे हमको लगभग आठ सौ रुपये सहायताके रूपमें मिले।"

पच्चीस वर्ष पूरा करनेपर १९३८ में विज्ञान परिषद्की रजत-जयन्ती मनाई गई, 'विज्ञान' का रजत-जयन्ती अंक निकाला गया। उसमें परिषद्के पच्चीस वर्षका विवरण प्रकाशित गया, जिसमें स्वामी हरिशरणानन्द शीर्षकके नीचे निम्न बातें लिखी थीं—"२ अप्रेल १९३४ की कौंसिलमें परिषद्को यह सूचना मिली, कि पंजाब आयुर्वेदिक फार्मेसी अमृतसरके श्री स्वामी हरिशरणानन्दजी अपनी फार्मेसीकी सम्पत्ति एवं अपने "आयुर्वेद विज्ञान" नामक पत्रको परिषद्को सौंपना चाहते हैं। प्रो० शालिग्राम भार्गवने अमृतसर जाकर स्वामीजीसे परामर्श भी किया और सब परिस्थिति १५ जून १९३४ की बैठकमें उपस्थित की। सौभाग्यकी बात है, कि हमें श्रद्धेय स्वामीजीका सहयोग प्राप्त हो गया।

"यह निश्चय हुआ, कि उनका "आयुर्वेद विज्ञान" 'विज्ञान' में सम्मिलित कर लिया जाये, और स्वामीजी आयुर्वेद विभागके सम्पादक बनाये जायँ। स्वामीजीकी फार्मेसीका गिफ्टडीड (दान-पत्र) अभी तैयार नहीं हो पाया है। परिषद्के पास ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है, जो अमृतसरमें फार्मेसीका प्रबन्ध कर सके। इसीलिए फार्मेसीकी देख-रेख स्वामीजी कर रहे हैं। स्वामीजीसे परिषद्को बराबर आर्थिक सहायता मिलती रही है, जिसके लिए हम उनके आभारी हैं। आपके परामर्शोंसे भी लाभ होता रहा है।"

प्रेस—१९४० में बम्बई जा स्वामी छापेखानेकी चार मशीनें और प्रेसका सामान अपने साथ लाये। पंजाब आयुर्वेदिक फार्मेसीका अपना प्रेस भी स्थापित हो गया। महायुद्ध छिड़ा हुआ था। 'विज्ञान' के लिए कागजका कोटा जो मिला था, वह अक्तूबर १९४१ में प्रयागमें मिलना

कठिन हो गया। पत्र बन्द होनेकी स्थितिमें था। सूचना पा स्वामीने कहा—पत्र बन्द नहीं करना चाहिये, उसे हम अमृतसरमें अपने प्रेससे निकालेंगे। इसीके अनुसार अक्तूबर १९४१ से 'विज्ञान' अमृतसरसे प्रकाशित होने लगा। तबसे अगस्त १९४२ तक ११ महीने 'विज्ञान' अमृतसरसे निकलता रहा। जब वहाँ भी कागजका अभाव हो गया, तो कुछ दिनोंके लिए प्रेसको भी बन्द कर देना पड़ा, और प्रयागमें कागज मिल जानेसे 'विज्ञान' फिर वहाँसे निकलने लगा।

१९४१-४२ के वार्षिक विवरणमें परिषद्को स्वामीसे सात सौ रुपये-की सहायताका उल्लेख किया गया था। आठ वर्ष तकका मौका मिला था, लेकिन फार्मेसीको सँभालनेके लिए परिषद किसी आदमीको तैयार नहीं कर सकी। स्वामीने आज्ञा रक्खी थी, कि परिषदसे सम्बन्ध रखने-वाले प्रोफेसर आयुर्वेदिक अनुसन्धानमें सहायता करेंगे, उसमें भी उन्हें निराश होना पड़ा। लाचार हो, अब उन्हें फार्मेसीको अपने ही हाथमें रखना पड़ा।

इस बीचमें उनके अध्ययन और लेखनका काम चलता रहा। "ज्वर मीमांसा" लिखकर प्रकाशित की। कूपीपक्वरसायनपर कई तजर्बे किये। रससिन्दूर, चन्द्रोदय, समीरपन्नग, मल्लसिन्दूर आदि पचासों कूपीपक्व-रस वह पत्थरके कोयलेपर, लकड़ी, गैस और बिजलीकी अँगीठीपर तैयार किये। उनका विश्लेषण करवाया और प्रयोग करके देखा। इस अनुभवके आधारपर उन्होंने "कूपीपक्वरसनिर्माण विज्ञान" नामसे एक बड़ा ग्रन्थ लिखा, जिसकी सौ पृष्ठकी भूमिकामें प्राचीन और अर्वाचीन रसायनशास्त्रका इतिहास दिया। यह ग्रन्थ १९४१ में प्रकाशित हुआ।

अध्याय १२

गृहस्थ (१९४१ ई०)

वर्ष ५२

स्वामी अब तक स्वामी थे। पैसा खूब आता था। रहनेके लिए मकान और अनुसन्धानशालाके लिए रेलवे लाइनके पास काफी जमीन खरीद ली थी। पैसा खर्च करनेमें भी उनका हाथ खुला रहता था। उनके मित्रोंमें सनातनी, आर्यसमाजी सभी थे। पुराने विचार रखनेवाले स्वामी अब कट्टर नास्तिक थे। न उनका ईश्वरपर विश्वास था और न अपनी पुरानी रूढ़ियोंपर। लेकिन उनमें कट्टरता नहीं थी। वह दूसरोंकी सभाओंमें जाते, दूसरेके भावोंके प्रति उदारता रखते। मित्रोंकी कमी नहीं थी, लेकिन अपने विचारोंके साथ चलनेवाले मित्रोंका बिल्कुल अभाव था। अब आयु भी ढल चली थी, जिसका प्रभाव मनपर पड़ना जरूरी था। देखते थे, सभी हमप्याला हमनिवाला होनेके लिए तैयार थे, लेकिन उनमें कोई ऐसा नहीं कि जो उनकी रोग या ढलती उमरमें पूरी तौरसे साथ देनेके लिए तैयार हो। किसीमें असली मित्रताके भाव नहीं पा रहे थे। इतने परिश्रमसे उन्होंने धन कमाया था। जानते थे, इसको वह अपने साथ नहीं ले जायँगे। पर व्यक्ति का अभाव उनके दिलमें खटकता था, जिसको वह अपना कह सकें और वह उन्हें अपना कह सके। यह सोचते हुए उनका ध्यान गया, इसकी सम्भावना स्त्रीसे ही हो सकती है। प्रकृतिने ही स्त्री-पुरुषको परस्पर आश्रित कर दिया है। स्त्री जितना सेवा-शुश्रूषा कर सकती है, उतना दूसरा नहीं कर सकता। कई वर्षोंसे वह अपने मित्र गोस्वामी सुधाधरदेव शर्माके घरपर रहते थे। खाना-पीना-सोना सब वहीं होता था। उनके परिवारके आदमी जैसे थे। रहनेके

लिए अपना आलीशान मकान था, पैसेकी कमी नहीं थी, फिर इस तरह दूसरेपर भार होना ठीक नहीं जँचा। वह इसी निश्चयपर पहुँचे कि शादी कर लेनी चाहिये। वह जानते थे, उनके यार-दोस्त शादीका विरोध ही करेंगे। एक तो समझते थे, कि चौथेपनमें ब्याह करना उचित नहीं है, और उससे भी बढ़ कर वह यह जानते थे, कि घरमें स्त्रीके आ जानेपर खाने-पीनेकी मौज नहीं रहेगी। वह स्वामीके विचारकी हँसी उड़ाने लगे। कहने लगे—"मरते समय संसारसे संन्यास लेना चाहिये या संसार बसाना चाहिये। स्वामी सठिया गये। इनकी अकल मारी गई। कोई ऐसी स्त्री मिलेगी, कि इन्हें उलटे अस्तुरेसे मूँड़ देगी, तब अकल आयेगी। ३०-३५ सालके जब थे, तब शादी करते तो कोई बात नहीं थी।" धीरे-धीरे यह चर्चा बहुत लोगोंमें फैल गई। कोई पूछता—"किस उमरकी भागमान से शादी करोगे? विधवा या कुमारीसे? ब्राह्मण या किसी और जातिकी?" कोई मजाक करता और कोई गम्भीरतासे पूछता। कोई कहता—"यहीं अमृतसरमें बन्दोबस्त कर देते हैं।"

स्वामी हमेशासे एकबग्गा रहे। जिस बातका निश्चय कर लिया, उससे डिगना नहीं जानते। उन्होंने मार्च १९४१ में ब्याहके लिए एक विज्ञापन बनाया। अपनी आयु, कारबार आदिकी बातें लिखीं, और उसे "हिन्दी मिलाप", "हिन्दुस्तान", "अर्जुन", "हिन्दुस्तान टाइम्स" आदि पत्रोंमें भेज दिया। कई सप्ताह तक विज्ञापन निकलता रहा। ब्याहके लिये बाहर से १५ पत्र आये, जिनमें विधवाओं, कुमारियों और अनाथालयकी तरुणियों के भी थे। तीन पत्र अच्छे सुशिक्षित परिवारके व्यक्तियोंकी ओरसे था। स्वामीने विवाहके लिए कैसी स्त्री चाहिये, इसे विज्ञापनमें स्पष्ट कर दिया था और लिख दिया था, कि हम अच्छी तरह देख-भाल कर, विचारोंको जान कर सिविल मैरिजके नियमसे शादी करेंगे।

वह अपनी भावी पत्नीको चुननेके लिए निकले। साथमें स्त्री सहायक हो सकती थी, इसलिए अमृतसरकी कन्या पाठशालाकी एक मुख्याध्यापिकाको साथ लिया। जहाँ से पत्र आये थे, वहाँ पहुँचे। लुधियाना देखा,

अम्बाला, दिल्ली, मथुरा, अलीगढ़, हाथरस, होते अन्तमें इटावा पहुँचे। इटावाकी ही तरुणी उन्हें पसन्द आई। बहुत छोटी उमरमें एक बूढ़ेसे उसे ब्याह दिया गया था, जो छ महीने भी नहीं जी सका, और लड़कीका गौना भी नहीं हो सका, कि वह संसारसे चल बसा। परिवारमें चार बहिनें, एक भाई और एक माँ थी। दो बहिनोंका ब्याह अपने ब्राह्मण घरोंमें हो चुका था। छोटी बहिन और यह तरुणी—जानकी देवी—अपनी माँके साथ थी। गाँवमें बापकी जमीन थी, लेकिन वह आकर इटावामें दवाई करने लगे थे। उस गाँवकी जमीनपर एक दामाद रह कर खेती-पाती करवाता था, और उसमेंसे कुछ भेज देता था। यही गुजारेका साधन था। जानकीदेवीकी आयु बीस सालकी थी। बापके कारण थोड़ा-सा पढ़ा था। दोनोंने एक दूसरेको देखा। तीन दिन तक स्वामी वहाँ ठहरे। देवीजीकी भी स्वीकृति पाकर वह रिश्तेदारोंको यह सूचित करके चले आये, कि हमारा ब्याह दिल्लीमें मजिस्ट्रेटके सामने सिविल मैरिज-कानूनके अनुसार होगा। तारीखकी सूचना देंगे, तब आप इन्हें दिल्ली पहुँचा जायें। कई वर्षोंसे दिल्लीमें स्वामीने अपनी फार्मेसीकी शाखा खोल रक्खी थी जिसके मनेजर श्री ब्रह्मानन्द आयुर्वेदालंकार थे। श्री ब्रह्मानन्दजीने सारा प्रबन्ध किया, और अप्रैल १९४१ में दिल्लीमें ब्याहकी रजिस्टरी हो गई, और पति-पत्नी अमृतसार चले आये। जानकीदेवी खाना बनानेमें एक नम्बर हैं, और खाना खिलानेमें तो उनकी ऐसी महिला शायद ही मिले। दो दिन भी उनके हाथका मीठा व्यंजन खाना पड़े, तो पेट खराब हुए बिना न रहे। "जरा और लीजिये, जरा और लीजिये" की रटमें आदमी संकोचके मारे कुछ अधिक खा ही जाता है, और उल्लू बनानेमें भाभीजीको बड़ा आनन्द आता है। और उल्लू तो बनना ही है, क्यों सामर्थ्य से अधिक खाया जाये। जानकीजीका स्वरूप बाज वक्त कड़ा मालूम होता है। वह जल्दी उबल पड़ती हैं। भीतरसे वह बहुत मधुर और शीतल हैं। अपनी असाध्य बीमारीके समय जिस तत्परतासे उन्हें सेवा करते देखा, उससे स्वामीको अपने चुनावपर सन्तोष हुआ।

वैसे 'एक तो करेला दूसरे नीम चढ़ा' की कहावत स्वामीपर बहुत चरितार्थ होती है। वह अपना निर्णय खुद करनेकी आदी हैं, दूसरोंकी सुन लेते हैं, इसमें शक नहीं। पर, जिस निश्चयको कर लिया, उसे वह बदलना नहीं चाहते। भला केवल एक स्त्री उनके निर्णयमें कैसे रोड़े अटका सकती है? इसके साथ अब वह बुढ़ापेमें पैर रख चुके हैं। और सबसे बढ़कर बात यह है, कि उन्होंने अपना सारा जीवन घुमक्कड़ी और एकाकी पनमें बिताया था। पहले जंगलोंमें फिरते रहे, फिर जब घरोंमें रहने लगे, तो भी निर्लेप रहते, साँप की तरह बनी-बनाई बाँबीमें गुजारा कर लेते थे। ऐसा आदमी गृहस्थ बननेके सर्वथा अयोग्य होता है। जहाँ तक इन पंक्तियोंके लेखकको नजदीकसे जाननेका मौका मिला है, वह यही कह सकता है, कि घुमक्कड़ी में जीवनका अधिकाँश बिता कर आदमी उसी जीवनके लायक रह जाता है। वह दूसरोंके भावोंको समझने और सहानुभूति रखनेकी शक्ति खो देता है। वह बँधे हाथीकी तरह अपने पुराने जंगलोंको याद करता है। किसीसे सम्बन्ध रखता है, तो कुछ घड़ियों और कुछ दिनोंभर। वह दूसरेके लिए जान दे सकता है, उसकी तन-मन-धनसे सेवा कर सकता है, लेकिन अपनी शर्तोंके साथ, अपने आदर्शोंके बीचमें रह कर। बुढ़ापेकी अपनी शारीरिक निर्बलताओं और उसमें सहारा मिलनेका प्रलोभन उसके लिए आकर्षक जरूर हो उठता है। यह आकर्षण कभी अपनी ओर खींचनेमें सफल होता है, पर वह सारे जीवनका सम्बल नहीं हो सकता। यदि कहीं घुमक्कड़ गैरजिम्मेवार हुआ, और अपने कर्तव्यकी अवहेलना करनेके लिए तैयार हुआ, तो उसका गृहस्थ जीवन शोक और चिन्ताओंका हो जायगा।

संसारमें बहुत कम मनुष्य सुख-सुविधा लेकर आते हैं। अधिकांशोंको जीवन-निर्वाहके साधन दुर्लभ होते हैं। जिनके पास सुख-सुविधाके साधन हैं, उन्हें उससे लाभ होता है। जो लड़के उससे वंचित हैं और साथ ही माता-पिताकी छायाको भी छोड़ चुके हैं, उन्हें अपने ही गिर-पड़ कर अपने पैरोंपर खड़े होनेकी कोशिश करनी पड़ती है। हमारे स्वामी वैद्य—भैया—ऐसे ही साधनहीन लड़कोंमें थे। माँ एक वर्षके होनेसे पहले

ही चल बसी। पिताका स्नेह था, लेकिन वह उतना अवलम्ब नहीं दे सकता था। उन्हें भी अपने जीवनके लिए संघर्ष करना पड़ता था। सौभाग्य कहिये, जो उसी समय बाबा गोपालदास आ पहुँचे, जिन्होंने ध्यान और योगकी कथाएँ कहकर बालकका ध्यान उधर आकृष्ट किया। वह धर्मकी बातें सुनता, और उस समय समझता था, कि धर्म सभी मीठा-मीठा है उसे क्या मालूम, कि इन धर्मोंमें आपसमें भी धुक्कम-फजीहत और कटाकटी चलती है। इनके संस्थापकोंमें तो कितने ही परम धूर्त और चालाक थे, जिन्होंने बहुत से लोगोंको अपने जालमें फँसा कर अपनी भेड़ बना लिया। साधु साधारण लोगोंको भेड़ें कहते, और जानते हैं, कि उनमें भेड़चाल ज्यादा चलती है। इसलिए वह अपना उल्लू सीधा करनेमें सफल हुए।

स्वार्थी चालाकोंने समझ लिया है, कि समाजमें रह कर आदमीको भेड़की तरह ही रहना पड़ेगा। इसीको समाज-व्यवस्थाका नाम दिया गया। बाप जिधर जाये, बेटेको भी उधर ही जाना चाहिए, यह परम्परा चला दी गई। अनुकरण करना बुरा नहीं है, आखिर मानव-प्राणी अनु-करणके बलपर ही पुरानी पूँजीको समेटते आगे बढ़ा, वन्य अवस्थासे सभ्य अवस्थामें पहुँचा। लेकिन, वह अनुकरण जब भेड़ियाधसानकी हालतमें पहुँच जाता है तो अनेक अनिष्टोंका कारण होता है। धर्म क्या है? वैदिक आर्योंको ले लीजिए। दुःख-तकलीफके समय, शत्रुओंपर विजय प्राप्त करनेके लिए वह अपने देवताओंसे प्रार्थना करते थे। इन्द्र देवोंका देव या देवज्येष्ठ था। वरुण, सविता, सोम आदि अनेकों देवता उनके पूज पूज्य थे, क्योंकि उनकी ही दयासे वह अपनेको सुखी और विजयी मानते थे। भरद्वाज, वसिष्ठ, विश्वामित्र उस समय सबसे बड़े धर्माचार्य थे। इसके बाद उपनिषद्के प्रवाहण, याज्ञवल्क्य आदि हुए। उन्होंने भी अपना पंथ खड़ा किया। ईसा, मुहम्मद आदि कितनोंने अपने-को भगवान्‌का पैगम्बर घोषित किया, अपनी-अपनी जमातें बनाईं। इन जमातोंमें मानव बँट गया। एक कोठरीमें बन्द आदमी कूपमण्डूक हुए बिना कैसे रह सकता था? आज इस फेरमें दुनियाके लोग पड़े हुए हैं।

भैया इस चौरासीके चक्करसे बाहर निकल गये हैं। जो चीजें बुढ़ापेमें बुद्धिमानोंको भी बेवकूफ बनाती हैं और वह ऋषिकेश, पाण्डीचेरी और तिरुवन्नामलयकी और भागने लगते हैं, उन्हें तरुणाईमें ही वर्षों तक भैयाने भीतर रह कर देख-समझ लिया। उन्हें तड़क-भड़कवाली धर्मकी दूकानें अपनी तरफ खींच नहीं सकतीं। सबसे बड़ा चमत्कार योगका माना जाता है, उसमें भी उनकी काफी गति हो गई थी। और यदि विघ्न न हुआ होता, तो वह उस तजर्बेको भी पूर्णतापर पहुँचाये बिना न रहते। वह उच्च भावनाओंको लेकर इस तरफ अग्रसर हुए थे। बातोंपर नहीं, बल्कि प्रयोगपर शुरूसे ही उनका जोर था। इसीलिए उन्हें मुक्ति, स्वर्ग आदिके जंजालको तोड़कर बाहर आनेमें देर नहीं लगी। चिकित्साके क्षेत्रमें प्रवेश करानेपर भी वह 'बाबावाक्यं प्रमाणं' के विरोधी रहे। आयुर्वेद ही नहीं, यूनानी, मिश्रानी, एलोपैथी, होमियोपैथी, बायोकेमी, क्रोमोपैथी, नेचरोपैथी आदि सभी चिकित्सा-पद्धतियोंके साहित्यका उन्होंने अच्छी तरह अध्ययन किया। जिस तरह साधु होकर उन्होंने योग तथा स्वर्ग-अपवर्ग के रहस्यको समझनेका प्रयत्न किया, उसी तरह आयुर्वेदके क्षेत्रमें भी उतर कर उन्होंने चिकित्सा और उसके उद्देश्यको समझनेकी कोशिश की।

संसार छोटा नहीं है। उसकी सीमा भारत तक सीमित नहीं है। पृथ्वीके दोनों गोलार्धोंमें जहाँ समुद्र नहीं है, वहाँ मानव फैला हुआ है। जिसकी संख्या आज ढाई अरब हो गई है। यातायात और मिलनेके साधन इतने विकसित और सुलभ हो गये हैं, कि अब सचमुच ही सारी वसुधा एक कुटुम्ब जैसी हो गई है। चिकित्साको ही ले लीजिए। इन्सोलिन या पेनिसिलिन एक देशमें आविष्कृत होती है, और देर नहीं लगती, कि सारे भूमण्डलमें उसका प्रचार होने लगता है। पुराने समयमें स्वास्थ्य और सुरक्षाके साधन आजकी अपेक्षा कम थे, और विपत्तियाँ आजसे अधिक थीं। आदमीने खुद तजर्बे करके, गलती करके ऐसी वनस्पतियोंको ढूँढा, जो विशेष रोगमें लाभ पहुँचाती, घावोंके भरनेमें सहायता करती हैं। उनमेंसे कुछ चमत्कारिक तौरसे लाभ या हानि पहुँचाती हैं। सोम

या भाँग पीनेसे ग़मगलत हो जाता था। विष खानेसे आदमी जानसे हाथ धो बैठता था। मांस आदमीका शुरूसे ही आहार रहा है। उसने मृग मार कर खाये, तो उसे कस्तूरीका पता लगा। मछलीके तेलका, बाघकी चर्बीका भी उसने औषधिके तौरपर प्रयोग किया। सींगों, चमड़े, चर्बी, मांस ही नहीं, पशुओंके मल-मूत्र तकका दवाके तौरपर प्रयोग किया। हजारों वर्षों तक वनस्पति और पशुके अंगोपांग ही औषधि रहे। फिर आदमी पाषाण-युगसे धातु-युगमें आया। उसे ताँबे-लोहेका पता लगा। फिर उसकी भस्में बनाने लगा। आदमी इसी चिकित्सा-स्थितिमें था फिर वैज्ञानिक युगमें ज्ञान, यन्त्र और प्रयोगशालाओंका महत्व बढ़ा, और उसने आयुर्वेदसे उद्‌भूत रसायन शास्त्रको चिकित्सामें प्रयोग करना शुरू किया। आगे बढ़ा, तो रोगाणुओंको नष्ट करनेवाले जीवाणुओंको खोज निकाला। अब परमाणु-युगमें तो परमाणुके रेडियो सक्रिय अवयवों-को कृत्रिम रूपसे प्रभावित कर चिकित्सा-क्षेत्रमें ऐसा चमत्कार दिखलाया, जिसका पता कभी किसीको नहीं हो सका था।

भैया विज्ञानकी हरेक प्रगतिका बहुत ध्यानसे अध्ययन करते रहे। वह किसी मतवादके भीतर अपनेको बन्द रखनेके पक्षपाती कभी नहीं थे, इसलिए वह आयुर्वेदको ही सर्वथा पूर्ण समझ कर लकीरके फकीर क्यों बनते? उपयोगिता सबसे बड़ी चीज है, और चिकित्सामें तो और भी। वादों और मतोंके फन्देमें पड़ना बुद्धिमानी नहीं है। वैद्य होते हुए भी उन्होंने आयुर्वेदके पंचभूत सिद्धान्त, त्रिदोष सिद्धान्त, षट्‌रस सिद्धांत, पचन-सिद्धान्तका खण्डन किया। इसका यह अर्थ नहीं, कि आयुर्वेदिक चिकित्साके महत्वको वह नहीं मानते। वह आयुर्वेदकी देनोंके कट्टर-पंथियोंसे भी अधिक समर्थ हैं।

सत्य और रूढ़िगस्त परम्परा एक नहीं हुआ करती। हमारे यहाँ व्याकरणकी उत्पत्ति शंकरके डमरूकी नादसे मानी जाती है, कितने ही इस बीसवीं सदीमें शिक्षित कहे जानेवाले पुरुष भी इसे दोहराते हैं। वैद्य मानते थे कि रसशास्त्रके आविष्कारक शिवजी थे, यह बहुत पुराना शास्त्र है। १९५२ में स्वामीजीने अपने ग्रन्थ "भस्म विज्ञान" को लिख

कर प्रकाशित किया, जिसमें उन्होंने बतलाया कि धातु-भस्म या रसके आविष्कारक कोई शिवजी नहीं थे और न उतना प्राचीन है। आठवीं शताब्दीसे पहले रस और भस्मको हमारे यहाँ कोई जानता भी नहीं था। उन्होंने बतलाया "धातुवादके जन्मदाता सिद्ध नागार्जुन थे, जो आठवीं शताब्दीमें हुए। उन्हींसे ही रस, रसायनवादका जन्म हुआ और सिद्ध सम्प्रदायके साधुओंने ही धातुवाद, रसायनवादको आगे बढ़ाया। इन्हींसे रस-चिकित्साका ज्ञान वैद्योंने पाया।" इस ग्रन्थके बारेमें आचार्य यादवजी विक्रमजी जैसे आयुर्वेदके महाविद्वान्ने कहा—"इस ग्रन्थमें वैद्योंके जाननेकी बहुत-सी उपयोगी बातें हैं।"

चिकित्सा प्रयोगपर आधारित है। इसके क्षेत्रमें प्रवेश करके आदमी बहुत से अनुभव प्राप्त करता है। भैयाने अपने रोगियोंके ऊपर ही नहीं, अपने ऊपर भी चिकित्सा-सम्बन्धी प्रयोग किये, जो अपने लिए कभी-कभी बुरे साबित हुए। इसी तजर्बेसे उन्होंने अपने कानकी शक्तिको और भी कमजोर कर लिया। अपने शरीरको प्रयोगशाला साइन्सवेत्ताओंने बनाया। कितनोंने तो तजर्बेके वास्ते अपने जीवनको खतम कर दिया। उनकी जीवनियोंसे भैया भी प्रभावित थे, इसलिए वह अपने ऊपर तजर्बा करनेके लिए तैयार हो गये। १९५४ में वह गर्मियाँ बिताने मसूरी आये थे। जमालगोटाके अधिक काल तक सेवन करनेसे उनके कानोंके पर्दे मोटे हो गये, जिसके कारण ऊँचे सुनने लगे। पर्दोंको पतला करना चाहिये, तभी सुननेकी शक्ति बढ़ सकती है। एक वनस्पतिके फूलोंके रसको उन्होंने इसके लिए उपयुक्त समझा और उसे दोनों कानोंमें डाल दिया। रसके पड़ते ही कानोंके भीतर आग लग गई। इतना ही नहीं, एक कानके पर्देको उसने जला कर नष्ट कर दिया और वह उस कानसे बिल्कुल बहरे हो गये।

१९४७ के जाड़ोंका आरम्भ था। भैया वैसे भी दूधके प्रेमी थे और पंजाबमें आकर वह अब अन्ध भक्त बन गये थे। दस-दस, पन्द्रह-पन्द्रह सेर दूध देनेवाली भैंसें घरमें रहतीं। लेकिन चाहे दूध-घी खायें, चाहे हलुवा-मलीदा कहावत है "मूस मोटाके मूसर होइहैं" उनके शरीरपर मांस और

चर्बी अधिक बढ़ने नहीं पाती थी। रोज सुबह टहल कर आते, तो चीनी मिला कर दही खाया करते। भाभीजीने कहा, अब सर्दियाँ आ रही हैं, अंडे आदि अच्छी गिजा खाया करें। अंडे लाये, कच्चे ही दो अंडे खाकर ऊपरसे दही उड़ा गये। एक घंटा भी नहीं बीता कि हाथकी कलाईमें दर्द पैदा हुआ। यह दही-अंडे खानेके कारण था, या और कोई कारण से, इसको जाननेके लिए उन्होंने अगले दिन फिर दो अंडे खा दही पी ली। पहले दिनकी तरह आज दूसरी कलाईमें एक घंटे पहले ही दर्द होना शुरू हुआ। तजर्बेका कितना चस्का लगा कि दोनों कलाइयोंमें अपने हाथों दर्द मोल लिया। ५८ सालकी उमरमें भी शरीर भले ही कृष हो, लेकिन उनका स्वास्थ्य बहुत अच्छा था, शरीरमें कोई रोग नहीं था। दही-अंडेके मिला कर खानेसे यह अवस्था क्यों हुई, इसपर वह सोचने लगे। कलाई-के दर्दकी उन्हें पर्वाह नहीं थी। अंडेमें दो तरहकी और दहीमें तीन तरहकी प्रोटीन होती है। दूधके साथ अंडे वह बराबर खाते थे, लेकिन कभी तकलीफ नहीं हुई। दही भी तो उसी दूधसे बना है। दूधसे अधिक दहीमें दुग्धाम्ल (लैक्टिक एसिड) और उसके बनानेवाले कीटाणु भर हैं। दही और दूधमें इतना अन्तर है। इन्हीं कीटाणुओंने दूधको दहीमें बदल दिया। उससे उसके छेनेकी प्रोटीनमें जो रसायनिक परिवर्तन हुआ, उसके कारण वह जम कर दही बन गया। इस रसायनिक परिवर्तनका प्रभाव अण्डेके प्रोटीनपर पड़ा। पेटमें कीटाणुओंकी उपस्थितिमें—जो दोनों का मिल कर थक्का जमा, उससे ऐसा भयंकर विषाक्त रसायनिक अंश उत्पन्न हुआ कि उसका प्रभाव कलाइयोंके बाँधनेवाली कण्डराके अतिसूक्ष्म अंशपर पड़ा और दर्द होने लगा। दर्द हटानेके लिए गठिया आदिकी सभी तरह-की दवाइयाँ खाईं, पर मर्ज बढ़ता गया, ज्यों-ज्यों दवा की। सभी चिकित्सा-पद्धतियोंकी सहायता ली, पर कोई लाभ नहीं हुआ। डाक्टरोंने मल, मूत्र, रक्त, श्लेष्म सबको टेस्ट किया, कोई दोष नहीं मिला। दो सालमें बीमारी और बढ़ी, दर्द कई जोड़ोंमें पहुँच गया। हाथकी कला-इयोंमें सूजन आ गई। दर्द भी अजीब था। दिनमें कोई तकलीफ नहीं रहती। सारे दिन अपना काम करते रहते। रातको सो जानेके बाद जब

आँख खुलती तो जोड़ोंमें इतनी सख्त तकलीफ होती कि दर्दके मारे जान निकलने लगती। आध घंटेमें ही दर्द अपने आप हट जाता। अगले दिन, दिन भर फिर वह अपना काम स्वाभाविक रीतिसे करते रहते। यह योगके समय हुई बाधासे भी बढ़ कर थी। कोई वैद्य या डाक्टर इसे पहचान नहीं पाता था। जब रोग ही न पहचाना जाय तो चिकित्सा क्या की जाय? तजर्बेके लिए यों ही दवाइयाँ खाते रहे। समझने लगे कि अब यह बीमारी शरीरके साथ ही खतम होगी। उन्होंने देखा, जिन चीजोंमें प्रोटीनका परिमाण अधिक है, उनके पेटमें पहुँचते ही तकलीफ बढ़ने लगती। दर्द सुईके चुभने जैसा होता। उन्होंने स्वतः निश्चय किया कि बीमारीकी जड़ पेट है, उसको शुद्ध करना जरूरी है।

२९ अप्रेल १९४६ से उन्होंने अपने आप चिकित्सा करनी शुरू की। भोजन बिलकुल छोड़ दिया। चीनी, गुड़, शहद इनमेंसे कोई चीज पानीमें मिला कर लेते और उसके साथ जुलाब और वमनकी दवा खाकर पेटको साफ रखते। जुलाबी दवाइयाँ आरम्भमें पेटमें जाकर जलन उत्पन्न करतीं। मरोड़ा उठने लगती। कौन-सी दवा मिला कर खानेसे जुलाबवाली दवाका यह दोष दूर होता है, इसका अनुभव करते उन्होंने एक ऐसा नुस्खा तैयार किया, जिसके खानेसे वह तकलीफ नहीं होती और इच्छानुसार जुलाब लिया जा सकता है। फिर पेट साफ करनेके लिए उन्होंने एनिमा लेना शुरू किया। एक-एक दिनमें ३५-४० बार तक एनिमा लिये। आँतोंमें चिपके रेशे एक महीनेके बाद छूटने लगे। और वह १५ दिन तक बराबर निकलते रहे। रेशोंके निकलने पर दर्द कम हो जाता था। दो महीनेमें जोड़ोंका दर्द और सूजन जाती रही। उन दिनों भैया अपनी रोजकी डायरी लिखते थे, और हर महीने फोटो खिंचाते। उनका वजन एक मन दो सेर रह गया, शरीर बहुत कृष हो गया। उठना-चलना-फिरना मुश्किल। इस समय ब्याहका लाभ उन्हें मालूम हुआ। पत्नी दिन-रात चौबीस घंटे सेवामें लगी रहती, न उन्हें सोनेका ख्याल था न खानेका। यह तो निश्चय ही है, कि उनके बिना वह यह कायाकल्प कभी नहीं कर सकते थे, और न फिरसे जीवन प्राप्त कर सकते थे। २८ सितम्बर

१९४५ के सुबह वह प्राकृतिक चिकित्साके अनुसार भाप ले रहे थे। पसीना छूटते-छूटते बेहोश हो गये। मल-मूत्र अपने आप निकल गया। ऐसा खतरनाक कायाकल्पके लिए किसीको सलाह नहीं देनी चाहिए। जानकीदेवीको तो मालूम हुआ, कि बस यह अन्तिम समय है। वह चीख उठी। चन्द मिनट बाद भैयाको होश आया, तो पत्नी पैर पकड़ कर गिड़-गिड़ाने लगी—"अब इस चिकित्साको बन्द करिये।" स्वामी तो अपने शरीरको प्रयोगका साधन बहुत पहलेसे बनाते आये रखते थे। यदि बेहोशीकी घड़ियां अन्तिम मिनट होते, तब भी उन्हें पर्वाह नहीं थी। वह तो चाहते थे, कि बीमारीको जड़-मूलसे खतम कर दूँ। अभी भी एक कलाईमें जरा-सा दर्द बाकी रह गया था, लेकिन पत्नीके आँसुओं को वह देखनेके लिए तैयार नहीं थे। कायाकल्प छोड़ दिया, और मायोक्राइ-सिनका इन्जेक्शन लिया, जिससे वह दर्द भी जाता रहा।

दो सालकी इस बीमारीमें एक बार उन्हें अकस्मात दमाका दौरा हुआ। दो दिन तक बड़ी तकलीफ हुई। पर इस शरीर-संशोधन या कायाकल्पसे फेफड़ा इतना निर्मल हो गया, कि फिर दमा उनके पास फटकने नहीं पाया, और पिछले सात सालोंमें जुकाम तक कभी नहीं हुआ। इसी बीमारीके दौरानमें खान-पान और औषधिके सम्बन्धमें अनेक प्रयोग किये, और महत्वपूर्ण अनुभव प्राप्त किये। भोजन कितनी देर पेट-में, ओंतोंमें कहाँ-कहाँपर रहता है? कौन-सा भोजन जल्दी और कौन-सा देरमें पचता है? भोजनका क्या प्रभाव शरीरपर पड़ता है? ये सब बातें उन्होंने पुस्तकोंमें पढ़ी थीं, अब खुद प्रयोग करके उन्हें देख रहे थे। उनको अनुभव हो रहा है, उक्त कायाकल्पने उनके जीवनको कमसे कम बीस वर्षके लिए बढ़ा दिया है। कायाकल्प करते समय इन पंक्तियोंके लेखकको स्वामीजी का परिचय नहीं हुआ था। परिचय प्राप्त करनेका समय एक साल बाद आया, और घनिष्ठता होनेमें एक साल और लगा। यह जरूर है, कि छः साल पहले जैसा कर्मठ उनको देखा था, आज छः साल बाद भी वह वैसे ही हैं। बाल सारे सफेद हैं, यह तो किसी-किसी-के तीस वर्ष पहुँचने तक भी हो जाते हैं। पर, न उनके चेहरे पर झुर्रियाँ

हैं, और न चलनेमें पैरोंमें जरा भी सुस्ती आई है। साठ वर्षसे ऊपर होकर इन पंक्तियोंका लेखक अनुभव करने लगा है, कि साठकी सीमा पार करनेपर जल्दी शरीरका अपना जीवट और शारीरिक क्रियाकी शक्ति कम होने लगती है। पर स्वामी जी में वैसा कोई परिवर्तन नहीं मालूम होता। यदि उनकी बात ठीक है, तो ८० सालकी आयु तक तो उन्हें जरूर जीना है।

हर बातमें वह प्रयोगको ज्ञानका सबसे बड़ा साधन मानते रहे हैं, यह भैयाके जीवनसे साफ मालूम होता है। यदि वह योगमें सफल हुए होते तो इसमें सन्देह नहीं, वह हमारे देशकी सबसे पवित्र और महान् आकर्षक समाधिको प्राप्त होते और उनका समाधि प्राप्त करना लोगोंको उल्लू बनानेके लिए न होता बल्कि उनकी सहज जिज्ञासा उन्हें समाधि-के आसपास घेरे बादलोंको फाड़ कर असली तत्वपर पहुँचनेमें मदद करती। वह समाधिको असम्भव बात क्यों कहते, जब कि स्वयं अनुभवसे उसकी कितनी ही बातोंको देख चुके थे। हाँ, यह जरूर साबित करते कि समाधिके लिए न किसी आत्माकी जरूरत है, न परमात्माकी। ईश्वर पर बिल्कुल विश्वास न रखते भी, मन या आत्माके भौतिक तत्वों-की उपज होते भी समाधिके साक्षात्कारमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। अन्तिम स्थितिपर पहुँचनेके समय उन्हें यदि कुनांवके जंगलोंमें रहनेका अवसर मिला होता और दो-दिन—तीन दिनपर भी दो-दो रोटियाँ रोजके हिसाबसे उनको मिल जातीं तो वह अपनी लगनसे समाधिके रहस्यको ढूँढ़ निकालनेमें सफल होते। उस समय इतना भी प्रबन्ध नहीं हो सका, यह दुर्भाग्यकी बात है।

चिकित्सामें भी हम देख चुके हैं, वह कितने निरालस और कठोर जीवन बिता रहे थे उसके पीछे वह वैद्य होकर नहीं, बल्कि फकीर होकर पड़े थे। आयुर्वेदकी दवाइयों तथा अनुभूत योगों और बूटियोंको उन्होंने बड़े परिश्रमसे जमा किया और तब तक उन्हें स्वीकार नहीं किया, जब तक कि उनके गुणोंको प्रयोग करके देख नहीं लिया। उन्हीं योगों औषधि-निर्माण विधियोंको उन्होंने अपनी फार्मेसीमें प्रयुक्त किया। आयुर्वेद

वस्तुतः एक वैज्ञानिक चिकित्सा-सिद्धान्त है। उसकी परिपाटी प्रयोगपर निर्भर है। पर इसके आसपास बहुत-सी खुराफातें वैद्योंकी परम्पराने जमा कर दी हैं, जिनको हटाकर उसपर लगी कीचड़ धोकर असली हीरेको बाहर लाना भैयाने अपना कर्तव्य समझा। इसीलिए वह पंचभूतके पीछे डंडा लेकर पड़े, बात-पित्त-कफ—त्रिदोष—पर जबर्दस्त प्रहार किया। जब उन्होंने देखा कि डाक्टर साइन्सके नवीनतम आविष्कारोंको अपनी चिकित्सा और औषधि-निर्माणमें प्रयोग करते हैं और उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता तो लोगोंके विरोधकी कोई भी पर्वाह न करके उन्होंने लकड़ी या कण्डेके ईंधनकी जगह गैस, बिजली और पत्थरके कोयलेको ईंधनके तौरपर इस्तेमाल किया। आदमीके हाथकी जगह मशीनें अच्छी तरह काम कर सकती हैं, इसे भी प्रयोग करके दिखला दिया। ये बातें बतलाती हैं कि भैया रूढ़िको माननेके लिए तैयार नहीं, चाहे वह कितनी ही पुरातन और पवित्र हो। चिकित्सा-विधिका प्रयोग अपने शरीरपर करनेसे वह नहीं चूके। इसीके पीछे एक कान गँवा दिया। कायाकल्प करते-करते तो कायाको ही उसके अन्त तक पहुँचानेमें कोई कसर नहीं उठा रक्खी। उन्हें जितना आयुर्वेदके आसपास घिरे मिथ्या विश्वासोंसे चिढ़ है, उतना ही तीन-चार हजार वर्षके हमारे वैद्योंके तजर्बों और उनकी औषधियोंपर विश्वास। आयुर्वेदकी कितनी ही औषधियोंको डाक्टरी चिकित्सा-पद्धतिने स्वीकार कर लिया है। यदि रूस या चीन जैसा शासन होता तो हमारी हजारों औषधियोंको वैज्ञानिक ढंगसे बहुत अच्छी तरह छान-बीन की जाती और लाभ उठाया जाता। हमारी तरह चीनमें भी अपनी प्राचीन चिकित्सा-पद्धति है। चीनके साथ हमारे देशका हजार वर्ष तक बहुत घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। हर क्षेत्रमें बहुत प्रकारके दानादान हुए। यह एकतरफा व्यापार नहीं था। चीनको हमने अपनी सर्वश्रेष्ठ वस्तुओंको प्रदान किया—कला, साहित्य, मूर्तिकला, चित्रकला, दर्शन, संगीत—सब उनके सामने रख दी गई और उनमेंसे बहुतोंको चीनने सहर्ष स्वीकार कर उन्हें सुरक्षित रक्खा। हमने भी वहाँसे बहुत-सी भौतिक महान् देनें स्वीकार कीं—चीनांशुक चीनकी ही देन है। नासपाती, आड़, लीची जैसे कितने ही मधुर फल

चीनने हमें दिये। विचारोंके क्षेत्रमें भी हमने कितनी ही चीजें लीं, जो इतनी आत्मसात् हो गई हैं कि उन्हें पहचाननेके लिए विशेष परिश्रमकी जरूरत है। हमने अपने आयुर्वेदका दिल खोलकर चीनमें प्रयोग किया। हमारे भिक्षुओंसे चीनी भिक्षुओंने आयुर्वेदका अध्ययन किया, हमारे औषधि-निर्माणके विधानको प्रयोगके साथ सीखा। शताब्दियों तक भारतीय या चीनी भिक्षु चिकित्सामें सबश्रेष्ठ माने जाते थे। हमारे आयुर्वेदने चीनके चिकित्सा-तत्वोंको अपने भीतर शामिल कर लिया, या कहिये हमारे आयुर्वेदको चीनी चिकित्सा-पद्धतिने अपनेमें मिला लिया। नवीन चीन किसी चीजको पुरानी होनेसे उसे बेकार नहीं समझता। उसने अपनी चिकित्सा-पद्धति और आधुनिक चिकित्सा-पद्धतिके बीचकी दीवारोंको ढा दिया, दोनों पद्धतियों को साथ मिलकर काम करनेका अवसर दिया, और दोनों पद्धतियोंके लिए आधुनिक विज्ञानके साधनोंको एक साथ सुलभ कर दिया। हरेक वैद्यकीय निदानको आधुनिक तुलापर तौलनेका वहाँ प्रयत्न किया जा रहा है, हरेक औषधिका रासायनिक, जीव-रासायनिक विश्लेषण करके उसके गुणोंका निर्धारण किया जा रहा है। वहाँ पुराने अनुभवोंसे प्राप्त एक भी वस्तु या विधिको भूलनेकी कोशिश नहीं की जाती।

भैया भी चाहते हैं, कि आयुर्वेदके बारेमें ऐसा ही कुछ किया जाये। बीस साल पहले इसी ख्यालको लेकर उन्होंने लाखोंकी अपनी फार्मेसीको विज्ञान-परिषद्के हाथमें देना चाहा था। अब भी उनके दिमागसे वह ख्याल दूर नहीं हुआ है, कायाकल्पके कारण वह अपनी आयु बीस वर्ष बढ़ा चुके हैं, अर्थात् इन पंक्तियोंके लिखनेके समय अब भी तेरह सालकी गारंटी उनकी जेबमें है। फिर कार्यरूपमें परिणत करनेका अवसर न मिलनेका ख्याल करके उनका मन लम्बे स्वप्नोंको देखनेसे कैसे कुण्ठित हो सकता है? दो सालके करीब हुए। एक दिन भैया बड़ी गम्भीरतासे कह रहे थे—दिल्लीमें मकानतो बन गया। मैं चाहता हूँ, वहाँ आधुनिक साधनोंसे सम्पन्न एक आयुर्वेदिक प्रयोगशाला स्थापित की जाय। उन्होंने उसके पैसे-कौड़ीका भी हिसाब लगा लिया, और एक प्रसिद्ध आधुनिक ढंगसे शिक्षित वृद्ध वैद्यको भी साथ देनेके लिए तैयार कर लिया था।

यह कल्पना सुनकर मैंने बिना भी घुमाव-फिरावके सीधे प्रहार किया—"बात आपकी ठीक है, पर यह लाखों नहीं करोड़ोंके खर्चकी बात है। इसका फल साल-दो सालमें नहीं निकल सकता, यदि दो-चार सालमें ही काम आगे न चल सका, तो सारा किया कराया व्यर्थ हो जायगा। प्रयोग शालाके लिए आधुनिक यन्त्र दस-पाँच हजारमें नहीं आयेंगे। अनुभवी प्रयोग-संचालकके लिए निर्वाह भर तो चाहिये ही। दिल्लीमें घरके अतिरिक्त तीन सौ रुपया मासिकके बिना काम नहीं चल सकता। फिर उसे सहायक और दूसरे आदमियोंकी भी जरूरत पड़ेगी। आरम्भमें ही हजार-डेढ हजार रुपया महीनेसे कम खर्च नहीं आयेगा। 'काजीजी दुबले शहरके अन्देसे' की बात न कीजिये। भारतकी और बहुत सी समस्याएँ, जिस तरह सच्चे अर्थमें समाजवाद-साम्यवादके आये बिना हल नहीं हो सकतीं, वैसे ही आयुर्वेदकी भी हल नहीं हो सकतीं। एक चना भाड़ नहीं फोड़ सकता, इसके लिए सारे राष्ट्रकी शक्तिकी जरूरत है। अनुसन्धानशालाको खोल कर आप बुरी तरह फँस जायँगे। फिर निकलनेका भी रास्ता नहीं मिलेगा। साधनोंके जुटानेमें कर्जमें फँसेंगे, कार्यकर्ताओंको वेतन समयपर न मिलनेपर दूसरी आफत सिरपर पड़ेगी। भैयाने कड़वी-मीठी बातें सुन लीं। उसके बाद फिर उसकी चर्चा नहीं की, लेकिन कह नहीं सकता, संकल्प अभी भी उनके दिमागसे दूर हुआ है या नहीं।

परिशिष्ट

१. बामीबटी—दादकी दवा जो पाटंटाके पासके ठाकुर साहबने बतलाई थी, वह इस प्रकार थी—नीला थोथा ५ तोला, फिटकिरी ५ तोला। दोनोंको पीस कर कढ़ाईमें डाल कर गरम करनेपर पहले वह पिघल जायेगा, फिर फूल कर सफेद नीलिमा लिये उनकी खिलें बन जायेंगी। उतार कर उनमें ५ तोला चित्रक (चीता) की छालका चूर्ण मिला दें। पानीके छींटे देकर घोटकर बेरके बराबर गोलियाँ बना लें। यह गोलियाँ दादपर भी बहुत अच्छा काम करती हैं। आतशकवालोंको भी इन्हें खिलाया जाता है। खानेपर वमन और विरेचन होता है, इसीलिए इन गोलियोंका नाम बामीबटी है। जिस साधुने यह दवा ठाकुर साहबको बतलाई थी, उसीने नाम बामीबटी रक्खा। पंजाब आयुर्वेदिक फार्मेसीकी यह बड़ी उपयोगी दवाओंमें है।

२. नासूर, भगन्दरका योग—रीठाके फलके छिलकेका चूर्ण बना उसमें बराबर मात्रामें रसकपूर तथा गुड़ डाल कर खूब कुटाई करे। जब गोली बनने लायक हो जाये, तो दो-दो रत्तीकी गोलियाँ बना लें। पानीके साथ एक गोली सबेरे और एक गोली शामको निगल जाये। पथ्य चनेके आटेकी रोटी घीसे खाये। नमक, दाल, सब्जी आदि कुछ भी न खाये। एक सप्ताहके सेवनसे नासूर और भगन्दरमें आराम होने लगता है। स्वामीजीने बहुत से रोगियोंपर इसकी परीक्षा की, और आधेसे अधिक रोगी इस दवा से अच्छे हो गये।

प्रसूता ज्वर-योग—पहाड़में भी मैदानकी तरह प्रसूता ज्वरका अधिक प्रकोप देखा जाता है। एक पहाड़ी वैद्यको एक बूटी मालूम थी। वह तीन बार उसे देता, और सन्निपातकी स्थितिमें पहुँची रोगिणीको भी आराम हो जाता। उसके पास दूर-दूरसे रोगी आते थे। स्वामी

सात दिन तक वैद्यके पास रहे, लेकिन वह दवा बतानेके लिए तैयार नहीं था। वैद्यके पास गेरुआ रंगका कोई चूर्ण था। उसका तो दिल नहीं पसीजा, लेकिन उसकी स्त्री भली निकली। उसने उस गेरुआ रंगके छिलकेको दे दिया, जिसका पहचानना स्वामीजी के लिए मुश्किल नहीं था। उस चूर्ण को उन्होंने मिलाकर देखा। मालूम हुआ, रूप, रंग, स्वाद सबमें कायफल के छिलके जैसा है। पहाड़ों में कायफल के वृक्ष बहुत होते हैं। इसीके चूर्णकी चार-पाँच मासेकी एक खुराक वह देता था, जिससे प्यास शान्त हो जाती और ज्वर घट जाता। स्वामीजीको इस योगको पूरा आजमानेका कभी मौका नहीं मिला, क्योंकि वैसी भयंकर रोगिणीको देखनेका अवसर नहीं मिला।

३. कुचला योग—शुद्ध कुचला १ तोला, शुद्ध गन्धक १ तोला, बड़ी पीपल १ तोला तीनोंको कूट-पीसकर शहदमें मिला दो-तीन रत्तीकी गोलियाँ बना ले। पानीके साथ एक गोली रोज दे दे।

४. उपदंश धूनी—सिंगर्फ (ईंगुर) १ तोला, मैनसिल १ तोला, कटेली १ तोला, अजवाइन १ तोला, सत्यानाशीका बीज १ तोला, देशी मोम १ तोला। सबको कूट-पीसकर मोमको पिघला उसमें चूर्णको मिला कर रख लें। रोगीको एक जालीदार कुर्सीपर कपड़ा उतार नंगा बैठा कर एक कम्बलसे गलेके नीचे तक ढाँक दें, कम्बल सारी कुर्सीको भी ढाँके रहे। धूपदानी या किसी पात्रमें दो-चार दहकते कोयलोंको रखकर उक्त धूनीको एक तोलेके करीब डाल कर कुर्सीके नीचे रख दें। धुआँ रोगीके इन्द्रियके घावोंमें खूब लगना चाहिये। दो-तीन बार धूनी देनेसे घाव सूख जाता है। इसके साथ कोई खानेकी भी दवा दी जा सकती है। आतशकके अलावा दूसरे भी जहरीले फोड़े-फुन्सियोंमें यह धुनी लाभ देती है।

५. द्रव संखिया—१ तोला संखियाको ५ तोला शोराके बीच एक कलछीमें रख डूबने भरका सरसोंका तेल डालें। फिर आग पर रखकर इतना गरम करें, कि तेल आगसे जल उठे। जब तेलमें आग लग जाये, तो कलछीको आग परसे उतार कर ठण्डा होनेके लिए रख दें। फिर

संखियाकी डलीको निकाल कर ओस या नमी वाले स्थान में चीनीकी प्यालीमें रख कर कुछ दिन पड़ा रहने दें। इस तरह रखनेसे वह अपने ही पड़ा-पड़ा द्रव (तरल) बन जायेगा। इस रसको एक सींकमें डुबो कर मक्खनमें लगाकर खिलायें। इससे जुलाब और वमन होता है, और रक्तका विकार शान्त होता है।

६. टाइफाइड (मंथरज्वर) औषधि—१ तोला खूबबडा; १४ दाने काला मुनक्का का पानीमें काढ़ा बनायें। भृंगराज बारहसिंगाकी आगके पत्तेमें लपेट कर बनाई भस्मकी १ रत्ती मात्रा शहदमें मिलाकर चटा दें और ऊपरसे काढ़ेको पिला दें। भोजन सिवा जल और काढ़ेके कुछ नहीं देना चाहिये।

७. अश्वकंचुकी—कब्ज वाले बच्चोंको इसकी एक या दो गोली रातको दे देनेसे ठीक हो जाती।

८. नीलकण्ठरस—कलमी शोरा ३ तोला, लोटासज्जी ३ तोला, सफेद फिटकरी ३ तोला, लालकर्सास ३ तोला, सोहागा १ तोला, गन्धक १ तोला, नीलाथोथा ३ मासा, शुद्ध ताँबा ६ मासा। ताँबेके बारीक पत्तरको कैंचीसे काट कर चावलके बराबर टुकड़े बना लें। सबको कूट कर कड़वी लौकीके भीतर भर उसपर कपड़मट्टी चढ़ाकर सुखा लें। इस तुम्बीको ३० सेर कोयले या एक मन कण्डेकी आगमें जला दें। इस प्रकार ताँबेकी भस्म बन जायेगी। इसकी खुराक की मात्रा आधी रत्तीसे दो चावलके बराबर है, अर्थात् इसे तिनके पर चढ़ा कर देनेकी जरूरत है। उक्त महात्मा इस दवाको दमा, गठिया, आतशक, रक्तविकार, सन्निपात, बवासीर आदि कई रोगोंपर देते थे। वह इस दवाको तीन दिन दूधके साथ और तीन दिन घी या मक्खनके साथ दिया करते थे। स्वामीने दस-ग्यारह दिन रह कर महात्मासे यह दवा सीखी।

९. बालकोंकी चूँडी—गिलोयका सत, बंसलोचन, जहरमोहरा, छोटी इलायचीका दाना, दरियाई नारियल, कमलगट्टेकी गरी, धनियाके

चावल, सब चीजें बराबर-बराबर लेकर खूब पीस कर शीशीमें रख लें। इसकी खुराक ४ रत्तीसे १ मासे तक है। दाँत निकलने के वक्त या गर्मियोंमें कौवेके लटक जाने पर बच्चोंको हरे-पीले दस्त लगने लगते हैं, और उनकी गरदन पतली पड़ जाती है, प्यास बहुत लगती है। पंजाबमें इसे घण्डी या घुण्डी कहते हैं। रोगके आरम्भमें दवाको अँगुलीपर लगा कर कौवेको दबाया जाये, तो बच्चा दो-तीन दिनमें ठीक हो जाता है। टौंसिलमें भी इससे लाभ होता है।

१०. स्वर्णभस्म—१ तोला सोना लेकर सोनारके पास जा उसे गलवाना चाहिये। उसमें दो रत्ती शीशा डाल उतार कर गर्मागरम कुटनेसे सीसेके कारण वह चूर-चूर हो जाता है। फिर उसे गरम ही खरलमें डाल कर पिसवाये, तब १ तोला कजली मिला कर कचनारके फूलके रसमें उसे खूब घुटवाये। फिर छोटी-छोटी टिकिया बना कर सुखा बिना सम्पुटके कण्डोंपर कचनारका चूर्ण बिछा कर दूसरे कण्डेसे उसे ढँक कर दो कण्डोंकी आँच दें—जब एक कण्डा बुझ जाये, फिर दूसरे कण्डेमें आँच दे। सात बार आँच देने पर सोनेकी भस्म तैयार हो जाती है। इस भस्मसे वसन्तमालती रस बनता है।

शरीर की क्रिया क्षमता—प्राणी जीवन धारण करते ही संघर्षमें पड़ जाता है। यदि माता बीमार है, तो गर्भका सम्वर्धन ठीकसे नहीं होता। माताका दोष गर्भके लिए घाटेका सौदा बन जाता है, जिसको लेकर वह जीवन संघर्ष करनेमें निर्बल साबित होता। अनुकूल धूप, नमी और हवाके बिना जैसे खेतमें बोया बीज ठीकसे बढ़ नहीं पाता, यही हालत गर्भस्थ प्राणीकी होती है। माताके रक्तमें जितने रोगोंका प्रभाव है, वह गर्भको दायभागमें मिलते हैं, और जीवके कोशोंके दोष तो आणुवंशिकता-के तौर पर इसी जीवन भर नहीं, बल्कि अगले जीवनों—सन्तानों—तकके लिए उपहारमें मिलते हैं। इन सब संघर्षोंसे सही-सलामत गुजरने पर गर्भ २८० दिनों बाद पेटसे बाहर आता है। आनेके समय भी उसे कम मुसीबतका सामना नहीं करना पड़ता। माता अति कृश हो, या

और कोई कारण हो, और समय पर आधुनिक साधन नहीं जुट सके, तो बच्चा जीवन खोकर ही माताके जठरसे बाहर आता है। उसकी नालको छेदते वक्त पुरानी दाइयाँ न हाथके सफाई का ख्याल करतीं, न हथियारकी। इसके कारण रोगके कीटाणु खुले घावमें भरते जाते हैं। इस वक्त भी बालकको जीवनके लिए संघर्ष करना पड़ता है। यदि कीटाणु प्रबल साबित हुए, तो शिशुको एक आँख भर दुनियाको देखनेका ही अवसर मिलता है फिर वह सदाके लिए विदा हो जाता है। यदि उससे बचा, तो माताको यह पता नहीं, कि दूध कितना और कब देना चाहिये।

चाहे अधिक दूध पीनेसे पेटदर्द हो और बच्चा रो रहा हो, तो भी माँ अपना स्तन उसके मुँहमें डाले जाती है। जन्मजात शिशुमें स्वचालित मशीनकी तरह खान-पान, मल-मूत्र त्यागकी क्रियाएँ होती हैं। उसमें चेतना नाम मात्रकी ही रहती है। वह कोई भी बुद्धिपूर्वक काम नहीं कर सकता। इसीलिए वह नहीं जानता, कि स्तनको कितनी देर चूसना चाहिये। स्तनके मुँहमें लगने पर अपने आप चूसनेकी क्रिया शुरू हो जाती है। स्तन मिलते ही वह उसे छोड़ना नहीं चाहता। उसमें दूध पीनेका आनन्द ही उसे नहीं मालूम होता, बल्कि स्पर्शका भी उसे विशेष आनन्द होता है, जिसे फ्रायड कामवासनाका ही एक रूप मानते हैं। यदि मात्रासे आहार नहीं दिया गया, और अधिक आहार पच कर रक्त बनने लगा, तो कोशाएँ (सेल) फूलने लगती हैं—रक्तमें प्रोटीनकी मात्रा अधिक होने पर कोशाएँ भी उनसे भरी होती हैं। श्लेष्म कलामें भी उसकी अधिक मात्रा पहुँचती है, और वह भी फूल उठती हैं। जब उसे आत्मसात् करनेमें वह असमर्थ होती है, तो कलाकी प्रोटीन बाहर आने लगती है। इससे बच्चोंके नाकसे बलगम बहने लगता है। श्लेष्म या बलगम एक प्रकारकी प्रोटीन है, जिसे आत्मसात् करना जरूरी है। मात्रासे अधिक होने पर फिर उसे कहींसे बहना जरूरी है। बच्चोंकी नाक बहने का मुख्य कारण यही है। बलगमी (प्रोटीनवाली) झिल्ली जब बलगमसे ज़्यादा भरी रहनेके कारण फूल जाती है, तो उससे साँसका रास्ता

रुकने लगता है। नाकका मार्ग अधिक तंग होनेसे श्लेष्मके आनेपर वह बन्द हो जाता है, फिर बच्चा मुँहसे साँस लेने लगता है। प्रकृतिने सभी प्राणियोंको साँस लेनेका ऐसा साधन दिया है, कि उसके उपयोगसे हवामें उड़ने वाले गंधवान् अणुओंका ज्ञान नाक रख सके, और विषैली तथा अरुचिकर गंधोंसे बचा जा सके। मुँहसे साँस लेने पर गन्धका ज्ञान शिशुके मस्तिष्कके गन्धबोधक केन्द्रमें नहीं पहुँच सकता। इसके कारण बच्चेका स्वास्थ्य बिगड़ सकता है। जब तक बच्चा अबोध है, तब तक माता-पिताका कर्तव्य है, कि बच्चेके लिए उचित, मात्रा-सहित पथ्य भोजन समयके साथ दिया करें। आधुनिक ढंगसे पले किसी युरोपीय बच्चेकी नाक बहती आप नहीं देख सकते, जब कि भारतीय बच्चोंमें ८० प्रतिशत इसके शिकार हैं। यह नाक बहना चेतावनी है कि लड़केका शरीर ठीकसे काम नहीं कर रहा है, और यदि इसपर ध्यान नहीं दिया गया, तो कई तरहकी बीमारियोंमें वह पड़ सकता है।

अधिक मात्रामें और अधिक समय खिलानेके ही कारण दस्त, पेचिश, पेटदर्द या अजीर्णता होते हैं। बाल्यकालमें इससे मुक्त न होने पर बढ़ने पर ये बातें उसकी आदतमें शामिल हो जाती हैं। शहरोंमें शारीरिक श्रमसे वंचित लोग सारे दिन कुछ न कुछ चबाते रहते हैं। इससे राष्ट्रीय खाद्य-सामग्रीकी हानि, भारी फजूलखर्चीकी बात तो होती ही है, लेकिन इससे भी बढ़कर डर है बीमारीके शिकार होनेका। जिनके शरीरमें रसोंकी मात्रा खपतसे ज्यादा बनती हैं, ऐसे व्यक्तियोंकी शरीरकी कोशाओं (सेलों) का काम बहुत अधिक बढ़ जाता है, जिसके कारण उनकी कार्यक्षमता घट जाती है। क्षमता घटने पर संचारी रोगोंका प्रहार जल्दी असह्य हो जाता है। खसरा, चेचक, मोतीझरा, टाइफस, टी० बी०, मरोड़ा आदिके कीटाणुओंको ऐसा शरीर निमन्त्रण देता है, बच्चा हो या जवान उसके शिकार हो जाते हैं। हमें यह समझना चाहिये, कि प्राणीके शरीरमें जो जीवन-व्यापार चलते रहते हैं, उन्हें एक सीमा तक हीश रीर चला सकता है। यदि सीमा पार की गई,

तो अनर्थकी सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं। अधिक खानेपर यदि पचा सके, तो मोटापा बढ़ेगा, जो शरीरकी कार्यक्षमताको ही कम नहीं करता, बल्कि हृदय रोग, डायबेटीज आदि बीमारियोंका लक्ष्य बनता है। बच्चोंमें तो और भी वह अनर्थका कारण होता है, क्योंकि अपने भीतर होते बहुत से दोषोंको वह मुँहसे कह नहीं सकते।

आदमीको जो मनोवृत्ति चिरअभ्याससे बन जाती है, उसमें परिवर्तन करना मुश्किल है। स्वामीने जवानीमें योग और अनासक्तिका अभ्यास किया था, जिसकी अमिट छाप किसी न किसी रूपमें उनके जीवनपर पड़नी जरूरी थी। उन्होंने लाखोंकी सम्पत्ति पैदा की, जिसका सदुपयोग करना उन्हें अभीष्ट है। वह जानते हैं, उसे वह अपने साथ नहीं ले जा सकते। अब तो बल्कि वह चाहते हैं, कि व्यवसायसे हाथ हटा कर शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करें। चाहा भी, कि अपनी फार्मेसीको उसके कर्मचारियोंकी सम्पत्ति बना दें और अपने पाँच सौ रुपये मासिक भरसे वास्ता रक्खें। पर, कर्मचारियोंने दूरदर्शितासे काम नहीं लिया। इसका विवरण उन्हींके शब्दोंमें लीजिए—

"जहाँ तक मुझे स्मरण है, मैंने आपसे इस बातका जिक्र किया था, कि फार्मेसी मैं अपने नौकरोंको दे दूँगा, और उससे केवल पाँच सौ रुपया मासिक खर्च के लिए लेता रहूँगा। यह बात मैंने अपने समस्त मित्रों और कर्मचारियोंको एक बार नहीं, कई बार कह दी थी। मेरी दूकानके नौकर दो वर्षसे माँग करते चले आ रहे थे, कि हमारी तरक्की की जाय। उन्हें बतला चुका था, कि 'जिस-जिस ग्रेड तक वेतन-वृद्धिका प्रश्न है, वह तो समाप्त हो चुका है, उससे अधिक नहीं बढ़ सकता। ग्रेड योग्यता, काम, श्रम और सेवा-कालसे सम्बन्धित है, उसमें तो अब वृद्धिकी कोई गुंजाइश नही है। अकस्मात् मेरे ऊपर जो मुकदमा आरम्भ हो गया है, जब तक वह समाप्त नहीं हो जाता, तब तक तो मैं फार्मेसी आप सबके नाम नहीं कर सकता। मुकदमे के समाप्त होनेपर मैं फार्मेसीको लिमिटेड कम्पनीके रूपमें बदल दूँगा, जिसमें सारे कर्मचारी शेयर-होल्डर (भागीदार) होंगे। वेतन सबका दूना कर दूँगा। इस

योजनाका मसौदा भी बना पड़ा है। फार्मेसीसे आप सबको जीवन भर, बल्कि अगली सन्तानों तकको सहारा बना रहेगा। मुझे केवल पाँच सौ रुपया चाहिये। वह भी जीवन पर्यन्त, पीछे कुछ नहीं।"...जब-जब वह कोई माँग करते या बात चलती, तो मैं यह सारी स्थिति कर्मचारियोंके सामने दोहरा देता। वास्तवमें मेरा चित्त फार्मेसीसे उपराम कर चुका है। पहले संकल्प था, कि बिना पैसे कैसे लक्षाधीश बना जा सकता है। वह साध पूरी हो चुकी थी। अब तो इच्छा इतनी ही थी, कि शेष जीवन मसूरी या कहीं आसपासके स्थानमें निश्चिन्त हो व्यतीत करूँ। मगर यह सुख बदा नहीं है।

"नवम्बरकी १० तारीख (१९५६) को अमृतसरसे सूचना आई, कि कर्मचारियोंने मिल कर एक सभा बना ली है, मजदूर-संघके सेक्रेटरीसे परामर्श लेकर यह काम किया है। वह लोग बोनस, वेतन वृद्धि आदिकी माँग लेबर इन्सपेक्टर द्वारा करनेवाले हैं। कुछ दिनों बाद लेबर इन्सपेक्टरकी तरफसे नोटिस आया, कि २० नवम्बरको मेरे दफ्तरमें आकर अपना हिसाब-किताब दिखाओ, और फार्मेसी मजूर सभाकी निम्नलिखित माँगोंको पूरा करो—

१. छोटे कर्मचारियोंको कमसे कम ६० रुपया मासिक वेतन हो,

२. दस रुपया वार्षिक वेतन-वृद्धि हो,

३. कमसे कम तीन वर्षका बोनस दो।

"नोटिस पाकर मैं अमृतसर पहुँच कर लेबर इन्सपेक्टरसे मिला। उससे सारी बात बतलाई—मैं तो अपनी फार्मेसी कर्मचारियोंको ही दे रहा हूँ। फार्मेसीकी वार्षिक आय १५ और २० हजार रुपयेके बीच रहती है। उसमेंसे मैं केवल छ हजार लेकर बाकी सब कर्मचारियोंको ही दे रहा था। क्या आप उन्हें इतना दिला सकेंगे। मैंने स्पष्ट बतलाया, कि कर्मचारियोंके भाग फूट गये, जो आपके पास आये।

"दो दिन तक बातचीत होती रही। कर्मचारियोंको फिर भी मैंने कहा, कि आप लोगोंको इस संघर्षसे बहुत थोड़ा मिलेगा। मैं जितना देना चाहता हूँ, वह इससे कहीं अधिक है। आप लोग १५-२० वर्षसे

हमारे यहाँ काम करते हैं। आपमें मैंने ईमानदारी और वफादारी पाई। कर्मचारियोंमेंसे एकने भी मेरे कथनपर विश्वास नहीं किया। तब मैंने स्पष्ट रूपसे कह दिया—अब मैं फार्मेसी नहीं दूँगा। जो कुछ लेबर इन्सपेक्टर दिलायेगा, वही दूँगा।

'मैंने लेबर इन्सपेक्टरके सामने एक मासका बोनस देना स्वीकार किया, और जिनका वेतन ४० रुपये रक्खा था, उनकी क्रमशः उन्नति ६० तककी मान ली। बड़े कर्मचारियोंका १०० से १२० तकका ग्रेड स्वीकार किया। इससे अधिक वेतन पानेवाले कर्मचारियोंकी वेतन-वृद्धिका कोई सवाल ही नहीं था। लेबर इन्सपेक्टरने मेरी बात मान ली। मसौदा बना ६ कापियाँ टाइप करवाईं, जिनपर मेरे, लेबर इन्सपेक्टर और मजदूर-संघके मन्त्रीके हस्ताक्षर हुए। इस निर्णयसे हमारे कर्मचारियोंको कुल १२०० रुपया वार्षिककी प्राप्ति हुई।

"इस तरह मैं जिस जंजालसे छूटना चाहता था, उसीमें फँसा रह गया।"